उपमा कालिदासस्य

उपमा कालिदासस्य

डा० श्रीशशिभूषण दासगुप्त
आधुनिक भाषा-विभागाध्यक्ष
कलकत्ता-विश्वविद्यालय

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए, जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री-केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
जून, सन् १९६२

मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
पुरी प्रिंटर्स
करौल बाग
नई दिल्ली-५

दार्शनिक-प्रवर

स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

की स्मृति में

भूमिका

कालिदास के काव्य की आलोचना में प्रवृत्त होते समय कालिदास की उक्ति ही याद आ रही है—

> क्व सूर्य-प्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
> तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
> मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
> प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

'कहाँ वह सूर्यप्रभव वंश—और कहाँ मेरी अल्पविषया मति ! मोहवश मैं बेड़े से ही दुस्तर सागर पार करने का इच्छुक हुआ हूँ ! मुझ मन्दकवियशः-प्रार्थी को केवल उपहास ही मिलेगा—जैसे उपहास का भाजन बनता है प्रांशुलभ्य फल के लिए हाथ बढ़ाकर कोई बौना ।' संस्कृत-साहित्य में मेरी जो अल्पविषया मति है, उसी के सहारे कालिदास की आलोचना में प्रवृत्त हो कर स्वयं ही समझ रहा हूँ कि मेरा यह प्रयास नितान्त 'मोहात्' ही है—प्रांशुलभ्य फल के लिए हाथ बढ़ाकर शायद उपहास का ही भाजन बनूँगा; किन्तु कालिदास ने ही यह भी कहा है,—

> रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्-विभवोऽपि सन् ।
> तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥
> तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्-व्यक्ति-हेतवः ।
> हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥

'मेरा वाग्विभव अत्यन्त अल्प होने पर भी मैं रघुगण का अन्वित वर्णन करूँगा; क्योंकि रघुगण की गुणावली ने ही मेरे कर्णों में प्रवेश कर मुझे इस

चापल्य के लिए अनुप्रेरित किया है। दोष-गुण के विचारक सज्जनगण ही मेरे इस वर्णन के सुयोग्य श्रोता हैं; क्योंकि स्वर्ण की शुद्धि अथवा अशुद्धि अग्नि द्वारा ही परीक्षित होती है।' कालिदास के ही सुर में सुर मिलाने के धृष्टता-जनक अपराध से संकुचित हो रहा हूँ—किन्तु मेरा वक्तव्य भी ठीक वही है—कालिदास ने जो कहा, वही; कालिदास की उपमाओं के सौंदर्य एवं माधुर्य ने मुग्ध किया है, उस मोहवश ही मैं उनकी आलोचना में प्रवृत्त हुआ हूँ—

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।

इसमें कितना तत्त्व एवं कितनी खाद है, इसके निर्णय का अधिकार तो अग्नि-सदृश सहृदय पाठकों को ही है।

—ग्रंथकार

काव्य में उपमा-प्रयोग एवं साधारण रूप से अलंकार-प्रयोग का तात्पर्य

'उपमा तो कालिदास की'—यह कथन प्रसिद्धि से ऊपर उठकर अब प्रायः लोकोक्ति में परिणत हो गया है। संस्कृत-साहित्यालोचना की परिधि पार कर अब सालंकार वाक्चातुर्य के प्रसंग में भी यह कथन शिथिल रूप से प्रयुक्त होते देखा जाता है। जब हम कालिदास की उपमा की बात करते हैं, तब हम लोग केवल उनके उपमा-अलंकार के प्रयोग-नैपुण्य की ही बात नहीं करते, उनकी एक विशेष प्रकार की अननुकरणीय सालंकार प्रकाशभंगिमा की ही बात करते हैं। इसलिए कालिदास के सम्बन्ध में उपमा शब्द का वाच्यार्थ सब प्रकार के अलंकार हैं। सब प्रकार के अलंकारों के अर्थ में उपमा शब्द का व्यवहार नितान्त अयौक्तिक या असार्थक नहीं है। उपमा ही सब प्रकार के अर्थालंकारों का मूल है। यदि हम लोग कुछ विश्लेषण एवं विचार करें, तो देख सकेंगे कि किसी न किसी प्रकार का सादृश्य या साधर्म्य ही है उपमा-अलंकार का मूल—अन्यान्य सभी अलंकारों में हम लोग इसी सादृश्य या साधर्म्य के विविध एवं विचित्र प्रयोग पाते हैं—चाहे वे अस्त्यर्थ रूप में हों, या नास्त्यर्थ रूप में। विरोध या असादृश्य भी सादृश्य और साधर्म्य का ही दूसरा पहलू है।

उपमा-अलंकार के इस बहु-अलंकार-मूलत्व के विषय में संस्कृत के आचार्य (आलंकारिक) गण ही विचार कर गए हैं। अप्पयदीक्षित ने अपने 'चित्र-मीमांसा' ग्रंथ में कहा है—

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका-भेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

अर्थात्, 'उपमा ही एकमात्र नटी है जो विभिन्न विचित्र भूमिकाओं में काव्यरूपी रंगमंच पर नृत्य करती है एवं काव्यविदों का मनोरंजन करती है।'

कुछ ध्यानपूर्वक विचार करने से ही हम समझ सकेंगे कि यह कथन अत्यन्त गूढार्थ-व्यंजक है। काव्य के अन्तर्गत काव्यरसिकों का मनोरंजन करने के लिए जितने प्रकार के कला-कौशल हैं, उनके मूल में है इसी एकाकिनी

उपमारूपिणी नटी का ही विचित्र लीला-विलास। अप्पयदीक्षित ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए एक विशेष दृष्टान्त दिया है। उन्होंने मुख और चन्द्र के सहारे सारी बात को समझा कर कहने की चेष्टा की है :

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभेदेनानेकालंकारभावं भजते। तथा हि। चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमा। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम्। चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामीति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामः। किमिदं मुखमुताहो चन्द्र इति सन्देहः। चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्तीति भ्रान्तिमान्। चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्तीत्युल्लेखः। चन्द्रोऽयं न मुखमित्यपह्नुवः। नूनं चन्द्र इत्युत्प्रेक्षा। चन्द्रोऽयमित्यतिशयोक्तिः। मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते इति तुल्ययोगिता। निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यतीति दीपकम्। त्वन्मुखमेवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यति इति प्रतिवस्तूपमा। दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखमिति दृष्टान्तः। मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्तीति निदर्शना। निष्कलंकं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते इति व्यतिरेकः। त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यतीति सहोक्तिः। मुखं नेत्रांकरुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितमिति समासोक्तिः। अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितशक्तिना इति श्लेषः। मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभ इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकालंकारविवर्त्तवतीयमुपमा।

प्रथमतः हम देखते हैं कि 'चन्द्र की तरह मुख,' इस कथन में चन्द्र एवं मुख में सौन्दर्य और माधुर्य का जो सादृश्य है, उसका वर्णन होने के कारण 'उपमा' अलंकार हुआ। 'चन्द्र की तरह मुख,' इसी भाव को व्यक्त करने के विचित्र वचन-भंगिमा-भेद के कारण उपमा के स्थान पर अन्यान्य अनेक प्रकार के अलंकारों की उत्पत्ति सम्भव होती है। जैसे—कहा जा सकता है, 'चन्द्र की तरह मुख, मुख की तरह चन्द्र,' ऐसा होने पर पूर्व वाक्य का उपमान (चन्द्र) एवं उपमेय (मुख) दूसरे वाक्य में विपरीत भाव से वर्णित होने के कारण यहाँ 'उपमेयोपमा' हुई। 'मुख मुख की तरह,' ऐसा कहने पर एक ही वस्तु में उपमानत्व और उपमेयत्व, दोनों धर्मों के पर्यवसान के कारण 'अनन्वयोपमा' हुई। यदि कहा जाये, 'मुख की तरह चन्द्र', तो प्रसिद्ध उपमान चन्द्र का उपमेय (मुख) रूप में निर्देश करने के कारण 'प्रतीप' अलंकार हुआ। 'चन्द्र को देखकर मुख का स्मरण करता हूँ,' ऐसा कहने पर 'स्मरण' अलंकार हुआ। 'मुख ही चन्द्र है', ऐसा कहने पर उपमान-उपमेय के अभेदत्व के कारण 'रूपक' हुआ।

'मुखचन्द्र के द्वारा ताप का उपशमन होता है,' ऐसा कहने पर 'परिणाम' अलंकार हुआ। 'यह मुख है या चन्द्र ?'—यहाँ 'सन्देह' अलंकार है। 'चन्द्र समझ कर चकोरगण तुम्हारे मुख की ओर आकृष्ट होते हैं,'—यहाँ 'भ्रांतिमान्' अलंकार है। 'चन्द्र समझ कर चकोरगण एवं कमल समझ कर अलि-समूह तुम्हारे मुख के प्रति अनुरक्त होते हैं,'—यहाँ 'उल्लेख' अलंकार हुआ। 'यह चन्द्र है, मुख नहीं,'—यहाँ 'अपह्नुति' है। '(मुख) मानो चन्द्र है,'—यहाँ 'उत्प्रेक्षा' है। 'यह रहा चन्द्र,'—यहाँ उपमेय का बिलकुल उल्लेख न कर उपमान का ही उपमेय-रूप में निर्देश करने के कारण 'अतिशयोक्ति' अलंकार हुआ। 'मुख द्वारा चन्द्र और कमल दोनों ही विजित हुए,'—यहाँ 'तुल्ययोगिता' है। 'रात्रि में चन्द्र और तुम्हारा मुख हर्षित होते हैं,'—यहाँ 'दीपक' है। 'तुम्हारा मुख है—यह समझकर मैं आनन्दित होता हूँ' और 'चन्द्र है—यह समझकर चकोर आनन्दित होता है,'—यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। 'आकाश में चन्द्र, पृथ्वी पर तुम्हारा मुख,'—यहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार है। 'मुख चन्द्र-श्री धारण करता है'—यहाँ 'निदर्शना' है। 'निष्कलंक मुख चन्द्र से भी बढ़ गया है'—यहाँ 'व्यतिरेक' है। 'तुम्हारे मुख के समान चन्द्र रात्रि में हर्षित होता है'—यहाँ 'सहोक्ति' है। 'नेत्राङ्करुचिर मुख स्मित-ज्योत्स्ना से उपशोभित है,'—यहाँ चन्द्र ही मुख है, चन्द्र के अन्तर्गत कृष्णचिह्न-समूह मानो नेत्राङ्क हैं, ज्योत्स्ना मानो स्मित हास्य की छटा है, अतः 'समासोक्ति' अलंकार हुआ। 'अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितशक्तिना'—वाक्य में 'अब्ज' शब्द का अर्थ चन्द्र भी किया जा सकता है (अप् से जात अर्थात् समुद्र से उत्पन्न); और कमल भी किया जा सकता है। 'हरिणाहितशक्तिना' शब्द का अन्वय हरिण+आहित+शक्तिना अथवा हरिणा (हरि द्वारा या सूर्यकिरण द्वारा), दोनों प्रकार से किया जा सकता है; इसलिए यहाँ 'श्लेष' अलंकार हुआ। 'मुख के समान चन्द्र निष्प्रभ है'—यहाँ 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलंकार है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि केवल मुख एवं चन्द्र का अवलम्बन कर बाईस अलंकारों के दृष्टान्त दिये गए। इन बाईस अलंकारों के मूल में जो केवल मुख और चन्द्र के पारस्परिक सादृश्य पर आधारित एक तुलना है—अर्थात् उपमा-अलंकार है, इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है। ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायेगा कि अप्पयदीक्षित ने इन बाईस अलंकारों को उपमा का ही विवर्त्त-मात्र कहा है। 'यहाँ उपमा का विवर्त्त' कहने से तात्पर्य यह है कि मूलतः सभी उपमा हैं—उक्ति-भेद के कारण पृथक्-पृथक रूपों में

केवल प्रतीयमान होते हैं ।

इसीलिए हम कह रहे थे कि कालिदास की उपमा के विचार-विश्लेषण या आस्वादन का अर्थ उनके काव्य-नाटक आदि से चुन-चुनकर केवल उपमाओं का ही विचार-विश्लेषण या आस्वादन नहीं है; वास्तव में यह कालिदास द्वारा व्यवहृत समस्त अलंकारों का विचार-विश्लेषण एवं आस्वादन है । ऐसा करते समय एक और विषय के सम्बन्ध में अपनी धारणा को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है; वह है संस्कृत-साहित्य के विचार-क्षेत्र में 'अलंकार' शब्द का तात्पर्य । यह 'अलंकार' शब्द संस्कृत-साहित्य-समालोचकगण द्वारा दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है—एक तो साधारण अर्थ में, दूसरे गम्भीर अर्थ में । साधारण अर्थ में अलंकार शब्द को उसके व्यावहारिक प्रयोग और मूल्य के स्तर पर ही व्यवहृत होते देखते हैं । किसी सुपुरुष का जैसे एक शरीर होता है, उस शरीर के भीतर आत्मा रहती है, शौर्य-वीर्य रहता है, काणत्व आदि की तरह जैसे कुछ दोष भी रह सकते हैं, जैसे उसके अवयव-संस्थान में एक वैशिष्ट्य रह सकता है, उसी तरह इन सब के साथ उसके आभूषण भी हो सकते हैं, जो उसकी शोभा बढ़ा देते हैं । इसी तरह काव्य-पुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का है, रस उसकी आत्मा है, अलंकार उसके भूषण हैं । अलंकार के सम्बन्ध में इसी तरह की धारणा होने के कारण विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्यदर्पण' में अलंकार का स्थान-निर्णय करते हुए कहा है—**काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव-संस्थान-विशेषवत्, अलंकाराश्च कटककुण्डलादिवत्** । अलंकार के सम्बन्ध में यह मत, काव्य-सृष्टि के अन्तर्गत अलंकार का स्थान बहुत गौण कर देता है; वह हो तो अच्छा है; न हो, तो काव्य नितान्त महत्त्वहीन हो जायेगा, ऐसी बात भी नहीं ।

किन्तु प्राचीन आलंकारिकों ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग अधिक गम्भीर अर्थ में किया है, एवं अलंकार शब्द के उसी गम्भीर अर्थ के आधार पर ही संस्कृत समालोचना-शास्त्र अलंकार-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस व्यापक एवं गम्भीर अर्थ में अलंकार शब्द का लक्ष्य है, एक मानव के हृदय की अनिर्वचनीय रसानुभूति दूसरे के हृदय में संक्रमित कर देने का समग्र कौशल । हमारे जीवन की रसानुभूतियाँ केवल सूक्ष्म, सुकुमार एवं अनन्त वैचित्र्यशील ही नहीं होतीं, बल्कि हृदय के गहन अन्तराल में बहुत बार अनिर्वचनीय 'चलस्पन्दन-रूपिणी होती हैं । इसी अनिर्वचनीय को वचनीय करने की चेष्टा

ही है हमारी सम्पूर्ण साहित्य-चेष्टा, बल्कि सम्पूर्ण कला-चेष्टा। साधारण शब्दों द्वारा अप्रकाश्य होने के कारण हमारा रसोद्दीप्त या रसाप्लुत चित्-स्पन्दन अनिर्वचनीय है। इस अनिर्वचनीय को वचनीय करने के लिए प्रयोजन होता है असाधारण भाषा का। इस प्रसंग में यह लक्षणीय है कि भाषा शब्द का भी तात्पर्य है—चित्स्पन्दन का बहिःप्रकाश-वाहनत्व। हमारी अनुभूति का एक विशेष धर्म एवं स्वरूप धर्म ही यह है कि उसे अभिव्यक्त करना होता है—दूसरे के निकट नहीं तो अन्ततः अपने ही निकट—और इसी अभिव्यक्ति-क्रिया में ही मानो अनुभूति की परिपूर्णता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति ही भाषा-सृष्टि का मूल कारण है; अथवा यह कहा जा सकता है कि भाषा साधारणतः अनुभूति की ही अभिव्यक्ति है—चित्स्पन्दन का ही शब्द प्रतीक है। आज के युग में कोई भी इस पर विश्वास नहीं करता कि संसार में हम लोग जो असंख्य प्रचलित भाषाएँ देखते हैं, वे वायु-मण्डल में चारों ओर उड़ी-उड़ी फिरती थीं, और मनुष्य ने अपने प्रयोजन के अनुसार उन्हें चुन लिया। मनुष्य आदिम युग से ही अपने को अभिव्यक्त करने के लिए नित्य ही भाषा की सृष्टि करता चला आ रहा है। पशु-पक्षियों की तरह मनुष्य भी शायद किसी दिन केवल ध्वनि के परिमाण-वैचित्र्य एवं प्रकार-वैचित्र्य द्वारा ही अपने हृदय का भाव अभिव्यक्त करता था। हृदय के भावों में जैसे-जैसे सूक्ष्मता, जटिलता एवं गम्भीरता आने लगी, ध्वनि के परिमाण-वैचित्र्य एवं प्रकार-वैचित्र्य में भी वैसे-वैसे ही आने लगी सूक्ष्मता, जटिलता और गंभीरता। क्रमशः सृष्टि होने लगी, विशेष-विशेष सुसमृद्ध भाषाओं की। किसी-किसी वैयाकरण का विश्वास है कि आरम्भ में भाष् धातु (बोलना) भास् धातु (प्रकट करना) के साथ ही युक्त थी।

किन्तु किसी कवि को भाषा के द्वारा जिस अन्तर्लोक का परिचय देना होता है, वह उसका एक विशेष अन्तर्लोक है—इस अन्तर्लोक का स्पन्दन सर्व-साधारण के हृत्स्पन्दन से बहुत कुछ भिन्न होता है—इसीलिए साधारण भाषा में उसको वहन करने की शक्ति भी नहीं होती। कवि का वही विशेष हृत्स्पन्दन अपने वाहन के रूप में एक विशेष भाषा की सृष्टि करता है। उस विशेष भाषा को ही हम लोगों ने ही नाम दिया है—सालंकार भाषा। हम काव्य के जिन धर्मों को अलंकार नाम से पुकारते हैं, थोड़ा सोचने पर समझ सकेंगे कि वे अलंकार कवि की उस विशेष भाषा के ही धर्म हैं। कवि की काव्यानुभूति स्वानुरूप चित्र, स्वानुरूप वर्ण, स्वानुरूप झंकार लेकर ही आत्मा-

भिव्यक्ति करती है । जब कवि की विशेष काव्य-रसानुभूति इस विशेष भाषा में मूर्त्त नहीं हो पाती, तब सच्चे काव्य की रचना नहीं हो पाती ।

रस-समाहित हृदय के इस स्पन्दन को अभिव्यक्त करने के लिए कवि की यह जो विशेष या असाधारण भाषा है, उसका परिचय विभिन्न साहित्य-समालोचकों ने, विभिन्न कालों में, विभिन्न प्रकार से देने की चेष्टा की है। भामह ने इसको कहा है वक्रोक्ति—'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' । भामह का विवेचन पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार वक्रोक्ति केवल सरल भाव से बात न कहकर उसे ज़रा घुमा कर टेढ़ेपन से कहने का चातुर्य ही नहीं है, बल्कि वक्रोक्ति का यहाँ अर्थ है—काव्योचित विशेषोक्ति । अलंकारादि इस विशेषोक्ति के ही पर्याय-मात्र हैं । भामह ने ही और एक सूक्ष्म तत्त्व की ओर इंगित किया है ; वह है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'—'शब्द और अर्थ का सहितत्व ही काव्य है ।' इसी 'सहित' शब्द से काव्य के स्थान पर व्यापक अर्थ में साहित्य शब्द का व्यवहार हम परवर्ती काल में देखते हैं। यहाँ 'सहित' शब्द का तात्पर्य क्या है ? भाव-गूढ़ अर्थ में जो सम्भावना और शक्ति निहित है, वह यदि शब्द-शक्ति द्वारा यथायथ रूप से प्रकाशित या प्रतिफलित होती रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का सहितत्व साधित हुआ है । अर्थ-शक्ति यदि सम्पूर्ण रूप से शब्द-शक्ति में समाहित न हो, 'चित्' यदि अनुरूप 'तनु' प्राप्त न कर सके, तब दोनों के असाहित्य द्वारा काव्यत्व का असद्भाव (अभाव) होगा ।

इसी प्रसंग में भामह ने और एक सूक्ष्म बात कही है । उनका कथन है कि 'काव्योक्ति सर्वदा अतिशयोक्ति ही है ।' इस बात में एक गम्भीर सत्य छिपा है। एक दृष्टि से देखने से कलाकृति-मात्र ही है अतिरंजित चित्रण । सब प्रकार की कलाओं का प्रधान कार्य है—एक व्यक्ति के भावों को सार्वजनिक बनाना, एक क्षण के भाव को सार्वकालिक बनाना । बिना कुछ बढ़ाये-चढ़ाये हम वैसा कभी नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त कलाकार के अपने निकट जो रसानुभूति प्रत्यक्ष है, पाठक, श्रोता या दर्शक के निकट वह परोक्ष है । इसी लिए चित्गत रसानुभूति को अभिव्यक्ति-कौशल द्वारा बिना अतिरंजित किये पाठक, श्रोता या दर्शक रस की समग्रता प्राप्त नहीं कर सकता । इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है :

"मेरा सुख-दुःख मेरे निकट अव्यवहित है; तुम्हारे निकट तो वह वैसा नहीं है । मुझसे तुम दूर हो ; इसी दूरी का विचार कर अपनी बात तुम्हारे निकट

कुछ बढ़ाकर ही कहनी पड़ती है। सत्य-रक्षण करते हुए इस बढ़ाने की क्षमता द्वारा ही साहित्यकार का यथार्थ परिचय मिलता है। जैसा है, ठीक वैसा ही लिखना साहित्य नहीं है; क्योंकि प्रकृति में जो देखता हूँ, वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है; मेरी इन्द्रियाँ उसकी साक्षी देती हैं। साहित्य में जो दीख पड़ता है, वह प्राकृतिक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं है; अतः साहित्य में उसी प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति करनी होती है।"

बढ़ा कर कहने का प्रयोजन केवल प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता के कारण ही नहीं है; इसलिए भी है कि कला में हमें निरवधि काल और विपुला पृथ्वी को कुछ क्षणों एवं स्वल्प आयतन के भीतर ही ग्रहण करना होगा। देश-देश में व्याप्त सुदीर्घ जीवन के सम्पूर्ण सुख-दुःख को, अनेक मानवों की हास-अश्रुमय जीवन-महिमा को हमें एक प्रहर में अभिनीत होने वाले एक नाटक के भीतर प्रकाशित करना होगा; इसीलिए कलाकृति के द्वारा रंगमंच की परिधि को बढ़ाकर उसे विपुला पृथ्वी का प्रतिभू (प्रतिनिधि) बनाना पड़ेगा। 'एक प्रहर काल को केवल अनेक वर्षों का ही नहीं, निरवधि काल का प्रतिभू बनाना पड़ेगा। किसी अभिनेता का अभिनय-नैपुण्य ही क्या है—अनेक युगों की, अनेक देशों की, अनेक बातों को निर्दिष्ट देश-काल की सीमा के भीतर ही यथासम्भव आभासित कर देना। संगीत के क्षेत्र में हम पदों में जो सुर लगाते हैं, वह सीमाबद्ध, छोटे से पद को सीमाहीन व्याप्ति एवं असीम रहस्य-महिमा दान करने के लिए ही। उदयाचल पर अनन्त दिग्वलय-विस्तृत सूर्योदय की शाश्वत महिमा को केन्द्रित करना होता है कलाकार को कागज के एक छोटे-से टुकड़े पर, कुछ रंग एवं रेखाओं के सहारे; इसीलिए उस रंग-रेखा में भरनी पड़ती है छोटे में बड़े को आभासित करने की शक्ति। वही तो यथार्थ चित्रकला है!

हमें लगता है कि भामह की 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः'—इस बात में, एवं वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति कहकर वर्णित करने में, कला-क्षेत्र के इसी बढ़ा कर कहने के सिद्धान्त का आभास मिलता है। इसीलिए कला की भाषा को पश्चिम में भी कहा गया है 'The hightened language'। भामह के मतानुसार अलंकारादि वस्तुतः और कुछ नहीं—काव्यार्थ को यथासंभव अतिशय या बढ़ा कर कहने की चेष्टा है। तभी तो भामह ने अतिशयोक्ति को ही सब प्रकार के अलंकारों का मूल कहा है। आलंकारिक दण्डी द्वारा भी भामह की इस बात का समर्थन होता है। उनके मतानुसार भी प्रायः समस्त अलंकारों का कार्य है अर्थ को बहुत बढ़ा देना; और इसीलिए उनका विचार है कि सभी अलंकारों में

अतिशयोक्ति का बीज छिपा है। परवर्ती काल के काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी अतिशयोक्ति का निर्देश, उसे 'समस्त अलंकारों का प्राण-स्वरूप' कहकर किया है।

भामह-कथित इस वक्रोक्ति का नाना प्रकार से विस्तार कर परवर्ती काल के राजानक कुन्तक, दशम या एकादश शताब्दी में अपने प्रसिद्ध 'वक्रोक्ति-काव्य-जीवित' वाद को, अर्थात् 'वक्रोक्ति ही काव्य के प्राण-स्वरूप है' इस मत को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा कर गए हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ही कुन्तक ने कहा है कि साधारणतः पण्डितगण त्रैलोक्यवर्ती सभी भावों की यथातत्त्व विवेचना करने की चेष्टा करते हैं; अर्थात् भाव जिस रूप के भीतर प्रकाशित हुआ है, एवं जिस रूप के साथ वह प्रायः अद्वययोग से युक्त है, उसी को बाद देकर, केवल तत्त्वरूप में वे भाव की ही विवेचना कर उसे समझने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह चेष्टा एकदम व्यर्थ है; क्योंकि इस चेष्टा द्वारा हम भाव को तत्त्वरूप में ही प्राप्त करते हैं, जबकि उस भाव के अनेक विस्मयकर रहस्य बड़ी मात्रा में नष्ट हो जाते हैं। किसी उक्ति के तत्त्वगत भाव को ही ग्रहण करना वैसा ही है, जैसा पलाश के फूल को उसके सम्पूर्ण रूपगत सौन्दर्य से पृथक् कर केवल लाल रंग के फूल की तरह ग्रहण करना। इस चेष्टा द्वारा मनुष्य अपने-अपने बुद्धिबल से भाव-समूह के कुछ तत्त्वों का यथारुचि आविष्कार कर लेता है। इस प्रकार यथाभिमत तत्त्वदर्शन के फलस्वरूप ज्ञान की दृढ़ता ही प्रकाशित होती है—भाव का परमार्थ या यथार्थ स्वरूप सम्भवतः इससे प्राप्त नहीं होता; इस तरह हम जिस परमार्थ की कल्पना करते हैं, वह शायद वैसा बिल्कुल नहीं होता। अतः भाव का इस प्रकार का स्वतंत्र तत्त्व—अर्थात् सृष्टि के अन्तर्गत, रूप के अन्तर्गत उसकी जो प्रकाशमय सत्ता है, उसे सम्पूर्ण बाद देकर भाव का एक 'असंग' 'केवल' तत्त्व आविष्कार करने की चेष्टा भूल है। इसलिए भाव एवं रूप का जो आन्तरिक साहित्य (सहितत्व) है, उसका सार-रहस्य उद्घाटन करने की इच्छा से ही कुन्तक ने इस साहित्य-तत्त्व की आलोचना आरम्भ की—

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः।
यदि तन्नाद्भुतं न स्यादेव रक्ता हि किंशुकाः॥
स्वमनीषकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचिः।
स्थाप्यते प्रौढिमात्रं तत् परमार्थो न तादृशः॥

इत्यसत्तर्कसंदर्भे स्वतंत्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सा मुन्मीलयाम्यहम् ।।

कुन्तक के मतानुसार काव्य या साहित्य की 'अद्भुतामोदचमत्कार' सार-वस्तु द्वितय, अर्थात् द्विविधलक्षणयुक्त, है। उसके एक ओर है तत्त्व और दूसरी ओर है निर्मिति—

येन द्वितयमित्येतत्तत्त्वनिर्मितिलक्षणम् ।

कुन्तक के उपर्युक्त मत का विवेचन करने से हम देख पाते हैं कि कुन्तक ने काव्य के 'साहित्य' लक्षण के ऊपर खूब जोर दिया है। यह साहित्यत्व किसके भीतर से विकसित होगा ? वह विकसित होगा तत्त्व और निर्मिति के सुष्ठु मिलन द्वारा; अर्थ और शब्द की अटूट सम्पृक्ति द्वारा। इसके किसी भी पहलू को बाद देने से कोई भी पहलू सार्थक नहीं। कुन्तक ने कहा है कि स्पन्दित चित्त में जो कवि-विवक्षा है, उसका एक विशेष धर्म होता है। हम काव्य की भाषा किसे कहेंगे ? कवि-चित्त की तत्काल-धृत यह जो चित्तस्पन्दन-जात विशेष विवक्षा है, उसको यथायथ रूप से प्रकाशित करने की क्षमता ही उसका विशेष वाचकत्व लक्षण है—**कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्**। इसी प्रसंग में उन्होंने और भी कहा है—**यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्दनेन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्ताव-समुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तः तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेन अभिधानेन अभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते**।—'यथार्थ प्रतिभाशील व्यक्ति के हृदय में जब बाहर का कोई पदार्थ प्रतिफलित होता है, तब वह अपने बाहरी रूप में ही प्रतिफलित नहीं होता; अर्थात् बहिर्वस्तु कवि के तत्कालोचित एक विशेष हृत्स्पन्दन के अलौकिक मायास्पर्श से एक विशेष अलौकिक महिमा से उद्भासित हो उठती है।' यह जो नवोद्भास है, उसके भीतर बहिर्वस्तु अपने प्रकृत रूप में भी महिमान्वित हो सकती है—प्रकृत रूप को अतिक्रम कर एक उत्कर्ष-विशेष से भी महिमान्वित हो सकती है। यह नवोद्भासित विषय-वस्तु तब अपने वस्तुस्वरूप का परित्याग कर कवि-चित्त में एक चिन्मय रूप धारण करती है; इस चिन्मय रूप की ही परिणति है कवि-विवक्षा, यही कवि के आत्मप्रकाश या आत्मसृष्टि की प्रेरणा है। यह विवक्षा ही तब विशेष अभिधेय या विशेष वाच्य हो उठती है। इस विशेष वाच्य का तदनुरूप वाचक के द्वारा, अर्थात् एक विशेष निर्मिति द्वारा, जब बहिःप्रकाश किया जाता

है, तब वह कलाकृति ही रसिक जनों की चेतन-चमत्कारिता का कारण होती है। इसी विशेषाभिधान-क्षमत्व को कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है। काव्य में अलंकारादि हैं—इसी वक्रोक्ति की निरंतर सहायता से तत्त्वरूप वाच्य के अनुरूप निर्मिति या वाचक को प्रस्तुत करने के प्रयत्न। वक्रोक्ति-साधित इस निर्मिति के बिना संसार के किसी भी सत्य की महिमा यथार्थतः प्रकाशित नहीं हो सकती।

अभिनवगुप्त प्रभृति जिन आलोचकों ने रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है, उन्होंने भी काव्य-सृष्टि के भीतर अलंकार को मुख्य स्थान दिया है। प्रतिभाशाली कवि के लिए काव्य की निर्मिति कोई पृथक् यत्नकृत वस्तु नहीं है—जैसे जलधारा जब किसी घड़े में पड़ती है तब उसे लबालब भर देने के बाद अपने-आप ही अपने निजस्व छन्द और ताल से उमड़कर छलक पड़ती है; वैसे ही रस के आवेदन से चित्त जब लबालब भर जाता है, तब अपने आप वह अपने प्रकाश के पथ की सृष्टि करता है और वेगपूर्वक बाहर आकर अपना स्वरूप व्यक्त करता है। आदिकवि वाल्मीकि मुनि ने किस तरह प्रथम काव्य-सृष्टि की थी, इस प्रसंग को अभिनवगुप्त ने बहुत ही सुन्दर ढंग से कहा है :

सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स एव''' आस्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तवृत्तिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्ने रसः परिपूर्णकुम्भोच्छलनवत् समुचितछन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः।

'क्रौंच के शोक ने लौकिक शोकरूपता का परित्याग कर कवि-चित्त के भीतर परमास्वाद्य अलौकिक करुण रस का रूप धारण किया; वह करुण रस ही कविगुरु के चित्तकुम्भ को परिपूर्ण कर बाहर छलक पड़ा। यह उच्छलन ही समुचित छन्द, वृत्तिप्रभृति द्वारा नियंत्रित होकर श्लोक-रूपता को प्राप्त हुआ।' अभिनवगुप्त ने अपनी शास्त्रीय भाषा में जो बात कही है, रवीन्द्रनाथ ने अपनी कवि-भाषा में वाल्मीकि के प्रथम कवि-कर्म के सम्बन्ध में ठीक वही बात कही है। हिमालय की उच्च शिखरस्थ कन्दरा में जब आषाढ़ का दुर्दाम दुर्निवार वेग उतर आता है, तब वह सहसा अपने-आप ही अपना रास्ता बनाकर अपनी भंगिमा से स्वच्छन्द धारा में प्रवाहित होता है। कविगुरु वाल्मीकि का हृद्गत भाव-संवेग भी उसी तरह स्वच्छन्द धारा में श्लोकरूपता प्राप्त कर बाहर उमड़ आया था। पर्वतीय झरना किस विचित्र नृत्य-भंगिमा से प्रस्तर के बीच से अपना मार्ग बनाकर कहीं मधुर स्वर से, कहीं भैरव-गर्जन से, कहीं

किनारे के किसी पुष्पाभरण से भूषित होकर बहता चलेगा, यह उसके भाव-संवेग एवं रस-सम्पद् के अतिरिक्त और कोई नहीं कह सकता। एक यथार्थ कलाकार के लिए भी यह बात उतनी ही सच है। उसकी भी यह जिज्ञासा है :

एइ जे संगीत कोथा ह'ते उठे,
एइ जे लावण्य कोथा ह'ते फुटे,
एइ जे क्रन्दन कोथा ह'ते टुटे

'अन्तरविदारण' (रवीन्द्रनाथ)

अलंकार की संज्ञा निर्देश करते हुए ध्वनिवादियों ने कहा है :

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥

अर्थात्—'रस के द्वारा आक्षिप्त होने के लिए ही जिसका बन्ध या निर्माण है एवं जो अपृथक् यत्न द्वारा ही साधित है, वही है अलंकार—यही ध्वनि-वादियों का मत है।' इसी को समझा कर कहा गया है—'निष्पत्तौ आश्चर्य-भूतोऽपि यस्य अलंकारस्य रसाक्षिप्ततया एव बन्धः शक्यक्रियो भवेत्'—जिस अलंकार की सृष्टि आश्चर्यभूत होने पर भी इसके आक्षेप से अति सहज ही भव हो उठती है, ऐसा अलंकार ही यथार्थ अलंकार होता है। यहाँ 'रस का आक्षेप' एवं 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः' इन दोनों बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। वास्तव में ये दोनों बातें एक ही बात है।

साधारणतः हम लोगों का विश्वास है कि अपने हृदय में हम पहले रसा-नुभूति करते हैं, फिर उसके बाद विशेष सचेतन हो यत्नपूर्वक हृदयधृत उस अनिर्वचनीय अनुभूति को यथोपयुक्त सालंकार भाषा में अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। यह द्वितीय प्रयास मानो एक पृथक् प्रयास ही है। प्रथम प्रयास में रसास्वाद, द्वितीय प्रयास में नाना कला-कौशल द्वारा उस रस का सुष्ठु परि-वेशन। हमारी यह साधारण धारणा भूल है। ये दो प्रयास पृथक् नहीं हैं। द्वितीय प्रयास प्रथम प्रयास की ही सहज एवं स्वाभाविक परिणति है। रसा-नुभूति ही अपने को उपयुक्त भाषा के माध्यम से अलंकार रूप में आक्षिप्त करती है। अतः कोई कलाकार जिस चित्तप्रयास द्वारा रसविधारण करता है, उसी चित्तप्रयास द्वारा अलंकारादि के माध्यम से रस-प्रस्फुटन करता है। इसी-लिए प्रतिभाशाली कलाकार के लिए अभिव्यंजना की चेष्टा में कोई क्लेश नहीं है। हम कलाकार द्वारा रचित कलाकृति को विस्मित होकर देखते रहते हैं कि ऐसी अपूर्व वस्तु कैसे रचित हुई। कालिदास के काव्य में उनके उपमा-प्रयोग

को देखकर हम अभिभूत हो जाते हैं। एक के बाद एक समुद्र की निरवच्छिन्न तरंगों की तरह वे चली ही आती हैं, चली ही आती हैं। उनमें से किसी एक की आन्तरिक निर्माण-निपुणता एवं व्यंजना-गर्भता का जब हम विचार-विश्लेषण करते हैं, तब सोचते हैं कि ऐसी एक कल्पना भी कालिदास के मन में उदित ही किस तरह हुई। उसके बाद घूमकर देखते हैं ऐसी ही अजस्र, अनन्त कल्पनाएँ! कैसे यह संभव होता है—इसका उत्तर दिया है ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने। उन्होंने कहा है :

अलंकारान्तराणि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसा प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति।

'अलंकारों पर यदि ऐसे ही विचार किया जाये, तो लगता है कि ये सब एकदम दुर्घट हैं; किन्तु रससमाहित प्रतिभावान् कवि के चित्त में रस के आक्षेप से ही ये मानों—'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए, ठेला-ठेली करते हुए बाहर निकल आते हैं।'—आनन्दवर्धन के इस कथन की व्याख्या करते हुए, अभिनवगुप्त ने कहा है—**निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितमपि कर्तुमशक्यानि। तथा निरूप्यमाणत्वे दुर्घटनानि। कथमेवं रचितानीत्येवं विस्मयावहानि।** अर्थात्, ऐसे अलंकारों की सृष्टि करने की चेष्टा करने पर या उनके निर्माण-कौशल का परिवेक्षण करने पर लगता है कि ये एकदम दुर्घट हैं। बुद्धि की सहायता से इनकी रचना करने की अनेक चेष्टाएँ करने पर भी कोई सक्षम नहीं होता। उसके बाद जब यह दुर्घट वस्तु संभव हो उठती है, तब आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता है कि कैसे हुई ऐसी विस्मयकर वस्तु की सृष्टि!

रससंवेग द्वारा ही अलंकार के स्वतःप्रकाशन के इस सिद्धान्त के प्रसंग में हम पाश्चात्य दार्शनिक समालोचक क्रोचे के सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। चित्त की सहजानुभूति (intuition) एवं अभिव्यंजना (experession)—इन दो वस्तुओं को उन्होंने दो प्रक्रियाओं से उत्पन्न नहीं माना है। चित्त में यथार्थ रसानुभूति हुई है, किन्तु उसकी यथोपयुक्त अभिव्यंजना नहीं हो सकी—इस बात पर वे बिल्कुल विश्वास नहीं कर सकते थे। उनका विश्वास था कि कला की अभिव्यंजना की सम्भावना बीज-रूप में हृदय की रसानुभूति में ही निहित रहती है; जैसे निहित रहती हैं एक विराट् वृक्ष में शाखा-प्रशाखाएँ, किसलय-पल्लव, फूल-फल की रेखाएँ, वर्ण, गन्ध, स्वाद आदि की प्रकाश-संभावना एक छोटे-से बीज में। क्रोचे के मतानुसार इसीलिए साहित्य

के रस एवं साहित्य की भाषा में अद्वय-योग रहता है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में कोई रसानुभूति जिस प्रक्रिया द्वारा हमारे चित्त में उन्मीलित होती है, ठीक उसी प्रक्रिया में ही उसकी अभिव्यंजना भी—जिस रूप में वह हमारे चित्त में उन्मीलित हो उठती है, उस रूप में ही उसकी अभिव्यंजना होती है। क्रोचे द्वारा वर्णित इस सौन्दर्यानुभूति की शक्ति (aesthetic faculty) एवं अभिव्यंजना-शक्ति के आन्तरिक अद्वयवाद को हम स्वीकार कर सकते हैं; नहीं भी कर सकते हैं; किन्तु यह बात ठीक है कि किसी बहिर्वस्तु का अवलम्बन कर हमारे चित्त में जब रसोद्रेक होता है, तब उस रसोद्रेक की स्फुटता, सूक्ष्मता, गम्भीरता और उसकी कमनीयता या प्रचण्डता के भीतर ही रहती है भाषामय रूप में उसकी अभिव्यंजना की स्फुटता, सूक्ष्मता, गंभीरता, उसकी कमनीयता या प्रचण्डता। भाषा का यह समस्त सौकुमार्य बाहर से कटककुण्डलादि की तरह कुछ जोड़ा हुआ नहीं है, काव्य-पुरुष का यही स्वाभाविक देह-धर्म है। अभिनवगुप्त ने भी इसीलिए स्पष्ट कहा है :

न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

कवि कालिदास स्वयं भी इस विषय में अद्वयवादी थे। उनका यह अद्वय-वाद जिस तरह उनके समस्त कवि-कर्म द्वारा प्रकाशित हुआ है, उसी तरह दो-एक परोक्ष उक्तियों द्वारा भी प्रकट होता है। हम कालिदास-कृत 'रघुवंश' महाकाव्य के प्रथम श्लोक में ही लक्ष्य कर सकते हैं कि उन्होंने जगत् के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर को प्रणाम करते हुए कहा है :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

यहाँ विशेषकर जिस बात को ध्यान में रखना होगा, वह यह है कि कालि-दास के मतानुसार वाक्य और अर्थ—काव्य की अन्तर्निहित भाव-वस्तु एवं उस का प्रकट रूप शब्द—परस्पर वैसे ही नित्य-सम्बन्ध-युक्त हैं, जैसे नित्य-सम्बन्ध-युक्त हैं, विश्व-सृष्टि के आदि माता-पिता पार्वती-परमेश्वर। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि जो शिव हैं, वे हैं निराकार, विशुद्ध, चिन्मय, भावमात्र-तनु; इसी भाव-तनु को भव-तनु में प्रकट करती है त्रिगुणात्मिका शक्ति। इस शक्तिरूपिणी, प्रकाश-रूपिणी पार्वती के माध्यम से ही चलती है भवरूप महेश्वर की समस्त रूपलीला। भाव की भव-लीला प्रकाशात्मिका महेश्वरी की लीला में शिव अपने-आप में भाव-मात्र हैं। तन्त्र में देखते हैं कि यह शिव एवं शक्ति, कोई भी परस्पर-निरपेक्ष, स्वतन्त्र नहीं है। शिवाश्रय के बिना शक्ति की लीला नहीं—शक्ति के बिना शिव

का ग्रवत्व या अस्तित्व ही नहीं—शिव तब शव-मात्र हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी अर्थ का भावरूप महेश्वर एवं शब्द या भवरंजिनी पार्वती, दोनों ही एक-दूसरे के आश्रित हैं। उपयुक्त अभिव्यंजना के बिना अर्थ असत्ता-मात्र है, और अर्थ के घनिष्ठ योग से रहित अभिव्यंजना शब्दाडम्बर है, 'अर्थ'—होने के कारण ही 'निरर्थक'। शब्दार्थ का यह पार्वती-परमेश्वर की तरह जो नित्य, परस्पर-संबद्ध भाव है, वही साहित्य शब्द का मौलिक तात्पर्य है। शब्दार्थ के उस साहित्य या अद्वययोग में सहजात विश्वास ही है कालिदास की समस्त कला का मूल रहस्य।

शब्द के साथ पार्वती की तुलना—या शब्द को आरम्भ से शक्तिमूल कह कर ग्रहण करने की यह प्रवणता भारतीय चिन्ताधारा में नाना रूप में बहुत गहरी दिखलायी पड़ती है; शब्द मूलतः है 'नाद'-तत्त्व, अर्थ है 'बिन्दु'-तत्त्व। शक्ति ही नाद है—शिव ही बिन्दु है। उपनिषद् आदि में देखते हैं कि ब्रह्म के रूप हैं—मूर्त्त एवं अमूर्त्त। वह मूर्त्त ब्रह्म हैं शब्द-ब्रह्म; अमूर्त्त ब्रह्म हैं अशब्द-ब्रह्म। शब्द-ब्रह्म ही नाद है, अशब्द-ब्रह्म ही बिन्दु हैं। भारतीय स्फोटवाद के मतानुसार शब्द के चार रूप या अवस्थाएँ है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वाग्यन्त्र की सहायता से उत्थित वायु-स्पन्दन रूप में जो कान में प्रवेश करता है, वह शब्द का एकान्त बाह्य रूप है—यही वैखरी है। मध्यमा इससे शब्द का सूक्ष्मतर रूप है। मध्यमा का कोई बाहरी रूप नहीं है; वह 'अन्तः-सन्निवेशिनी' है; एकमात्र बुद्धि ही है उसका उपादान—'बुद्धिमात्रोपदाना'; अर्थात् बुद्धि-व्यापार में ही उसका अस्तित्व है; वह सूक्ष्मा एवं प्राणवृत्ति की ही अनुगता है। यद्यपि बुद्धि-व्यापाररूप में सब प्रकार के प्रकाश-क्रम उसमें संहृत हैं, तथापि समस्त प्रकाशक्रम की सम्भावना भी उसके भीतर निहित है—उपयुक्त समय में वह क्रम-परम्परा द्वारा आत्म-प्रकाश करती है। पश्यन्ती अवस्था और भी सूक्ष्म है—यह बहुत-कुछ ज्ञान और ज्ञेय की एकीभूत अवस्था है। 'सृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ में बीज में समस्त वृक्षोत्पादन की शक्ति जिस तरह विविध रूप में फूट उठने के लिए प्रस्तुत रहती है, अथच अपने को विभक्त कर प्रकट नहीं करती; भीषण तूफान के पहले प्रकृति की अन्तःस्तब्धता के भीतर जिस तरह उसका शक्ति-पुंज अपने में लीन रहता है, चित्त की भी वैसी एक अवस्था होती है, जिस अवस्था का अर्थरूप में उद्बोध नहीं होता, अथच चित्त के स्वाभिन्न स्पन्दन में वह विधुत हुई रहती है—इस अवस्था को कहते हैं पश्यन्ती।"* इस पश्यन्ती के भी पीछे है एक 'भाविचराचर-

* काव्यविचार : डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

बीजरूपिणी' पराशक्ति—जिससे विश्व-सृष्टि उत्सारित होती है, वही नाद-रूपिणी पराशक्ति। इस पराशक्ति को तन्त्र में कहा गया है कामेश्वरी ; ज्ञान-मात्रतनु शिव की सकल अभीष्ट-पूर्ति द्वारा उसकी सकल कामना पूर्ण कर उस को सदानन्द में निमग्न रखने के कारण ही वे कामेश्वरी हैं। शिव की अभीष्ट-पूर्ति शब्द का तात्पर्य है—शिव का सुष्ठु प्रकाश। इस प्रकाश-रूपिणी देवी को तभी तो कहा गया है शिव की विमल आदर्शरूपिणी। कोई जिस तरह आप ही अपना आस्वाद नहीं ग्रहण कर सकता—निर्मल दर्पण में आत्म-सौन्दर्य-माधुर्य सम्यक् प्रतिफलित होने पर उस के अवलम्बन द्वारा ही जैसे आत्म-आस्वादन सम्भव है; वैसे ही प्रकाशरूपिणी शक्ति के विमल आदर्श (दर्पण) में आत्म-प्रतिफलन को देखकर शिव आत्म-सम्भोग करते हैं। काव्य और अन्यान्य कला के क्षेत्र में भी हम वही सत्य देखते हैं। अमूर्त्त चिन्ता, वह कितनी ही सूक्ष्म एवं मूल्यवान् क्यों न हो, जब तक उपयुक्त रूप का आश्रय ले प्रकाशित नहीं होती, तबतक वह असत् है, अनास्वाद्य है। कुन्तक के 'वक्रोक्तिकाव्यजीवित' ग्रन्थ के आरम्भ में साहित्य की तात्पर्य-व्याख्या में भी हम ठीक वही बात देख आये हैं, इसीलिए कुन्तक साहित्य के 'द्वितय'-धर्म के दोनों पक्षों पर समान ज़ोर दे गए हैं—उनके द्वारा कथित 'तत्त्व' और 'निर्मिति' ही है कालिदास के 'अर्थ' और 'शब्द'—वे ही हैं परमेश्वर एवं पार्वती।*

हमने ऊपर काव्य के भावरूप (Spirit) और भवरूप (expression) के सम्बन्ध में जो विवेचन किया है, उस समस्त विवेचन का एक ही मुख्य लक्ष्य है। उस लक्ष्य को स्पष्ट कर यों कहा जा सकता है—कालिदास के काव्य में जितने उपमा-प्रयोग (अर्थात् मोटे तौर पर अलंकार-प्रयोग) हैं, वे कालिदास के काव्य-शरीर में सचेतन आरोपित गुण नहीं हैं—वे उनकी असाधारण काव्य-शैली के ही साधारण धर्म हैं—इस दृष्टि से विचार किये बिना, महाकवि कालिदास की उपमाओं में जो चमत्कार हैं, यथायथ रूप से हम उनका आस्वादन नहीं कर सकेंगे।

---

* कालिदास ने 'कुमारसंभव' में पार्वती प्रदान करने के प्रसंग में महर्षि अंगिरा के मुख से कहलवाया है :

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि। (६।७९)

'भारती या शब्द के साथ जैसे अर्थ का मिलन कराया जाता है, तुम्हारी कन्या के साथ वैसे ही महादेव का मिलन कराना उचित है।'

शब्दालंकार और अर्थालंकार का मूल रहस्य

कालिदास की उपमाओं का प्रत्यक्ष रूप से विवेचन आरम्भ करने से पहले अलंकारों के सम्बन्ध में और एक-दो बातों का विचार कर हमारी कुछ धारणाओं को और भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। हम जानते हैं कि अलंकार को साधारणतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। इन दो प्रकार के अलंकारों को हम शब्द के दो साधारण धर्मों से संयुक्त कर सकते हैं; एक है शब्द का संगीत-धर्म और दूसरा है शब्द का चित्र-धर्म। यह पुनः उल्लेखनीय है कि हम यहाँ शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित संकीर्ण अर्थ में नहीं, बल्कि उसके व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, जिस अर्थ में उसकी प्रकाश-रूपता है। अनिर्वचनीय रसानुभूति को आभासित करने के प्रयास में सबसे बड़ा सहायक है संगीत। हमने पहले ही देखा है कि काव्य का जो वाच्य है, वह सर्वत्र ही 'विशेष' है। वाच्य के इसी विशेषत्व को प्रकट करने के लिए भाषा को भी विशेषत्व प्राप्त करना होता है। भाषा को अपने व्यावहारिक साधारणत्व का अतिक्रमण कर असाधारण हो उठने में यह संगीत-धर्म बहुत-कुछ सहायता पहुँचाता है। काव्य के संगीत-धर्म का प्रकाश एक तो छन्द में होता है और दूसरे शब्दालंकारों में। शब्दालंकार जहाँ कवि के वाग्-ऐश्वर्य-प्रकाश की एक साडम्बर चेष्टा-मात्र रहता है, वहाँ काव्य-शरीर में वह व्याधि-तुल्य है; भूषण नहीं, दूषण है। किन्तु शब्दालंकार का यथार्थ कार्य है शब्द के अर्थ को विचित्र ध्वनि-तरंग द्वारा विस्तृत करना। हृदय की जो अस्फुट बात भाषा में अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उसको आभासित कर देना। उपयुक्त छन्द के संग इसीलिए जब उपयुक्त शब्दालंकार का योग होता है, तब इस पारस्परिक साहचर्य शब्द-शक्ति का अनन्त एवं अपूर्व विस्तार होता है। कालिदास के 'रघुवंश' काव्य में देखते हैं कि रामचन्द्र के सीता को लेकर विमान द्वारा लंका से अयोध्या लौटने के समय कवि समुद्र का वर्णन करते हुए कहता है :

> दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी,
> तमाल-ताली-वनराजि-नीला।

आभाति वेला लवणाम्बुराशे-
धारानिबद्धेव कलंकरेखा ।।

यहाँ शब्दालंकार की जो झंकार उठी है, उससे समुद्र का वर्णन सार्थक हो उठा है। 'आ'कार के बाद 'आ'कार के द्वारा समुद्र की सीमाहीन विपुलता को जैसे ध्वनि द्वारा ही मूर्त कर दिया गया है। कुमारसंभव में उमा का वर्णन करते समय कवि ने कहा है—'सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव !' उद्भिन्नयौवना उमा के लावण्य की कमनीयता कुछ छन्द में, कुछ चित्र में और कुछ ध्वनि की कमनीयता में कवि ने प्रस्फुटित करने की चेष्टा की है। और अभिनन्द कवि जहाँ मेघविद्युन्मयी घनान्धकारमयी भयंकर रजनी का वर्णन करते हैं :

विद्युद्दीधितिभेदभीषणतमःस्तोमान्तराः सन्तत-
श्यामाम्भोधररोधसंकटवियद्विप्रोषितज्योतिषः ।
खद्योतानुमितोपकण्ठतरवः पुष्णन्ति गम्भीरताम्
आसारोदकमत्त-कीटपटली-क्वाणोत्तरा रात्रयः ।।

यहाँ गम्भीर अन्धकारमयी रजनी की भीषणता, उसमें उठने वाले तूफान की प्रचण्डता मानो शब्द-ध्वनि के द्वारा ही मूर्त हो उठी है। जरा सोचने से यह साफ दिखलायी पड़ेगा कि यहाँ शब्दालंकार भी केवल कटककुण्डलादिवत् ही नहीं है, साधारण शब्द एवं अर्थ द्वारा जो प्रकट नहीं हो सकता, संगीत द्वारा, झंकार द्वारा, उसी को प्रकट किया गया है। अभिव्यंजना के इस कला-कौशल को चेष्टापूर्वक नहीं लाना पड़ता। कवि की सचेतनता के भीतर ही सर्वदा उसकी उत्पत्ति होती है, ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती; 'भाव.नाथ' रूपी रस-सत्ता के भीतर ही जो स्पन्दनमयी अभिव्यंजना-शक्ति निहित रहती है, यह समस्त कला-कौशल उस शक्ति की विलास-विभूति-मात्र है। भाव की सूक्ष्मता एवं अनिर्वचनीयता के भीतर ही छिपी रहती है इन सब कला-कौशलों की प्रयोजनीयता; अभिव्यंजना के समय इसीलिए भाव स्वयं ही इनका संग्रह कर लेता है। शब्दालंकार जहाँ भाव-प्रकाश की स्वच्छन्द गति के भीतर ही अति स्वाभाविक नियम से नहीं आता है, वहीं वह एक कृत्रिम चाकचिक्य-मात्र रह जाता है; वहाँ प्रयोजन की अपेक्षा आयोजन अधिक रहता है। कवि जयदेव ने जहाँ 'मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः' प्रभृति द्वारा घन-मेघ-जाल से समावृत नभोमण्डल एवं श्यामल तमाल-तरु-समूह से अन्धकारमय वन-भूभाग के वर्णन द्वारा काव्यारम्भ किया है, वहाँ उनके शब्द की झंकार सार्थक है; किन्तु उन्होंने ही जहाँ वसन्त-वर्णन करते हुए लिखा :

ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे ।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्जकुटीरे ॥

अथवा,

उन्मद-मदन-मनोरथ-पथिक-वधूजन-जनित-विलापे ।
अलिकुल-संकुल-कुसुम-समूह-निराकुल-बकुल-कलापे ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि यह भाव की स्वच्छन्द गति द्वारा प्रसूत नहीं; कवि की सचेतन चेष्टा का फल है एवं शब्द की झंकार यहाँ बहुत-कुछ कटककुण्डलादि के अनावश्यक प्राचुर्य एवं झंकार की तरह काव्य के शरीर और मन को भाराक्रान्त करनेवाली है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार द्वारा केवल अनावश्यक चातुर्य दिखलाने की चेष्टा संस्कृत-साहित्य में कुछ कम हुई हो, ऐसा नहीं। हमारे बँगला और हिन्दी-साहित्य में उससे अधिक हुई है; केवल पद्य में ही नहीं, गद्य में भी। देह को स्वास्थ्यवान् एवं कर्मठ बनाने के लिए व्यायामादि कर मांसपेशियों को सुगठित करना उचित है; लेकिन ऐसे भी व्यक्ति संसार में दुर्लभ नहीं हैं जो संसार के और किसी विशेष कार्य आते ही नहीं, केवल मुद्गर भाँजकर दोनों हाथों की मांसपेशियों की परिधि ही बढ़ाते हैं एवं जन-समाज में नाना प्रकार की कसरत दिखलाकर वाह-वाही लूटने की चेष्टा करते हैं। काव्य-क्षेत्र में भी यह पहलवानी मनोवृत्ति कोई कम हो, ऐसा नहीं; लेकिन जहाँ लेखक इस पहलवानी मनोवृत्ति का परिचय देता है, वहीं वह अकवि है—उसकी रचना भी अकाव्य है।

हमने देखा—शब्दालंकार भाषा के संगीत-धर्म के अन्तर्गत हैं। भाषा के चित्र-धर्म में अर्थालंकार आते हैं। अवश्य ही यह चित्रधर्म-संज्ञा खूब स्पष्ट नहीं है—इसीलिए उसकी व्याख्या की आवश्यकता है। बाहर की किसी वस्तु या घटना के स्मृतिधृत स्फुट-अस्फुट चित्र को मन के पर्दे में जगाकर उसकी सहायता से वक्तव्य की अभिव्यक्ति करने के धर्म को ही मैंने 'भाषा का चित्र-धर्म' नाम दिया है। थोड़ा सोचने पर हम यह देख पायेंगे कि हम जो कुछ सोचते या समझते हैं, वह सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश ही बहिर्जगत् की वस्तु या घटना की अनुकृति की छाया में ही। हमने अपना सम्पूर्ण ज्ञान बहिर्जगत् की अभिज्ञता द्वारा ही प्राप्त किया है या इसके भीतर मन की बहुत-सी निजस्व सम्पदा भी है—इसे लेकर दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों में यथेष्ट विवाद है; किन्तु जिन्होंने ज्ञान के भीतर मन की निजस्व सम्पदा की बात स्वीकार की है, उन्होंने भी साधारणतः यह कहा है कि ज्ञान का प्रायः समस्त उपकरण

ही बहिर्जगत् से संगृहीत होता है। इन्द्रियानुभूति द्वारा वस्तु के सम्बन्ध में जो चित्-प्रत्यय (Concept) होता है, उसमें मन अपनी निजस्व शक्ति द्वारा नानाविध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किन्तु ऐसा होने पर भी हमारा ज्ञान मूलतः निर्भर करता है बहिर्वस्तु या घटना की अनुभूति के ऊपर ही। हो सकता है कि आज ज्ञान के उपकरणों के भीतर बहिर्जगत् की ये प्रतिच्छवियाँ खूब स्पष्ट होकर हमारी आँखों के सामने नहीं आतीं; इसीलिए शायद हम लोगों का ज्ञान आज बहुत-कुछ शब्दजन्य ही प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ा विश्लेषण करने पर ही अवचेतन से भाषा में बहिर्वस्तु या घटना की ये प्रतिच्छवियाँ पुनः स्पष्ट हो जाती हैं। अपने मन के जिन भावों (ideas) को हम अमूर्त (abstract) समझते हैं, वे भी सम्पूर्णतः अमूर्त हैं कि नहीं, इस विषय में घोर सन्देह है। खोजने पर शायद उनके पीछे भी मन के अवचेतन लोक में कुछ-कुछ अस्पष्ट प्रतिच्छवियों का संधान मिल सकता है।

कुल मिलाकर हम देख पाते हैं कि हमारी ज्ञान-क्रिया सम्पूर्णतः नहीं तो, अधिकांशतः निष्पन्न होती है, बहिर्वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि में। यह तथ्य खूब स्पष्ट हो उठता है जब हम अपने मानसिक या आध्यात्मिक जगत् के संबन्ध में कोई बात कहने जाते हैं; इन सभी विषयों की बात करते समय हमें बहिर्जगत् की वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि का सहारा लेना ही पड़ता है। भाषा में निहित यह जो बहिर्जगत् की प्रतिच्छवि है, वही भाषा का चित्र-धर्म है। भाषा का यह चित्र-धर्म ही विकसित होकर सृष्टि करता है आख्यायिका एवं प्रतीकात्मक कहानियों की; वाक्य के भीतर साधारणतः उसकी परिणति अर्थालंकार के रूप में है, और शब्द-समष्टि के भीतर इस चित्र-धर्म को साधारणतः नाम मिला है मुहावरा या लोकोक्ति। भाषा में जो प्रयोग मुहावरों के नाम से परिचित हैं, उनमें अधिकांश का ही विश्लेषण करने पर हम देख सकेंगे कि उनमें भाषा का यह चित्र-धर्म ही है। हम एक प्रयत्न द्वारा दो कार्य सिद्ध नहीं करते, 'एक ढेले से दो चिड़ियों का शिकार करते हैं।' हम अपना काम खराब नहीं करते, 'अपने पैरों में तेल देते हैं।' हम पर हठात् विपत्ति नहीं पड़ती, 'अकस्मात् वज्रापात' होता है; अवश्य ही 'विपत्ति पड़ना', इस क्रिया के भीतर भी चित्र-धर्म है। महामूर्ख व्यक्ति को हम पुकारते हैं, 'काठ का उल्लू।' हमारा 'सयाना कौआ ढेर पर बैठता है।' हम बिना पूरा समझे अन्दाज से काम नहीं करते, 'अन्धकार में ढेला फेंकते हैं।' अपात्र व्यक्ति के निकट निष्फल निवेदन नहीं करते, 'अरण्यरोदन' करते हैं।' हम मर्म-पीड़ा नहीं पहुँचाते,

'कलेजा छेद देते हैं' (वैसे मर्म-पीड़ा के भीतर भी चित्र-धर्म है)। हम 'आग से खेलते' हैं; किसी के साथ किसी का 'छत्तीस' का सम्बन्ध होता है; कोई 'अपनी नाक काटकर दूसरे का अपशकुन करता है;' किसी के 'पेट में दाढ़ी' होती है; हममें से कोई-कोई 'पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर' होता है; हम 'अंगुली पकड़ कर पहुँचा' पकड़ते हैं; 'मरी बछिया बाम्हन के निमित्त' देते हैं; हमारे यहाँ 'खेत खाये गदहा, मार खाये जुलाहा' हुआ करता है। हम 'बालू से तेल निकालते' हैं; 'कटे पर नमक छिड़कते' हैं; किसी को 'चारों खाने चित्त' कर देते हैं; 'नहर काटकर मगर बुलाते' हैं; जरूरत पड़ने पर 'गधे को बाप बनाते' हैं; 'अपना खाकर दूसरे की बेगार करते' हैं; लोगों की 'आँख में धूल झोंकते' हैं; किसी के 'इधर कुआँ, उधर खाई' पड़ती है; 'जागते घर में चोरी' हो जाती है; हमारे लिए अलभ्य वस्तु 'डूँगर का फूल' है। 'तिल को ताड़ करना,' 'समुद्र में पानी बरसाना,' 'तेल का बैंगन होना,' 'दो नाव पर सवार होना,' 'हस्तामलकवत् देखना,' 'छछूँदर के सिर में चमेली का तेल' लगाना; 'कन्नी काटना,' 'दुम कटाकर दल में शामिल होना;'—इन सभी में है चित्र-धर्म। जरा ध्यान देने पर ही देख पायेंगे कि जहाँ हमने वक्तव्य को सुन्दर और स्पष्ट बनाना चाहा है, वहीं चित्र की सहायता ली है। गुणवाचक, क्रियावाचक या मानसिक अवस्थावाचक शब्दों को हम प्रायः सर्वत्र इस चित्र-धर्म की सहायता से प्रकट करते हैं। हम पर विपत्ति आती है, अथवा हमारे सिर पर 'विपत्ति फट पड़ती है,' अथवा हम विपत्ति में पड़ जाते हैं; इन सबसे विपत्ति को हमने बाहर की वस्तु की प्रतिच्छवि के रूप में ग्रहण किया है। हम 'खुशी से फूल जाते' हैं; 'दुःख में डूब' जाते हैं; 'हँसते-हँसते दोहरे हो जाते' हैं; 'शोक से हमारा मन टूट जाता' है; 'आनन्द में हम 'खिल जाते' हैं; 'निराशा में पतवार छोड़ देते' हैं; 'क्रोध से हमारा शरीर जल उठता' है; 'मीठी बात से हृदय शीतल होता' है। उपर्युक्त प्रत्येक कथन का विचार-विश्लेषण करने पर देख सकेंगे कि हम इन भावों को अन्य किसी रूप में भी अभिव्यक्त नहीं कर सकते। मनुष्य जब खुशी से भर जाता है, तो मन का ऐसा विस्तार होता है—दुःख में चित्तवृत्ति ऐसी भारी होती है—हँसी के वेग में शरीर ऐसा अनियंत्रित हो जाता है—आनन्द में पुष्पसम ऐसा विकास है कि इनमें से किसी को भी हम चित्र बिना अन्य विशेषणों की सहायता से समझा नहीं सकते। फूलने की बात छोड़ ही दी जाये, खुशी या आनन्द से जो हृदय भर जाता है, उनको ही हम और किस तरह प्रकट कर सकते हैं? एक 'भर जाना' क्रिया में दो पक्षों के दो चित्र हैं—पहला हृदय का एक पात्र-चित्र

और दूसरा आनन्द का तरल-प्रवाह चित्र। हमारा मन जब विपत्ति का सामना करता है, तब यह 'सामना करना' क्रिया दोनों तरफ के, मानो हथियारबन्द मन और विपत्ति का, युद्ध के लिए प्रस्तुत चित्र उपस्थित करती है। फिर कोई सुन्दरी 'गजगामिनी' होती है; किसी को हम 'अश्वगति' कहते हैं; किसी का 'मोम का शरीर' होता है; किसी की 'श्येन-दृष्टि' होती है। श्येन-दृष्टि न कह-कर यदि तीक्ष्ण-दृष्टि कहें, तब भी सोचना कि दृष्टि की तीक्ष्णता कैसी है, किसके अनुसार है? किसी को 'आँख उठाकर' देखते हैं; किसी-किसी की बात पर 'कान नहीं देते'; कठिन काम में हमारा 'मन नहीं लगता'; सम्मान के 'बोझ से हम दब जाते' हैं; सुख में चेहरे पर 'मुस्कान खिलती है'; दुःख में 'साहस खो बैठते' हैं। आँसुओं की 'बाढ़' भले ही न आये, यदि 'आँसू उमड़ ही पड़े,' तो भी चित्र को हम मिटा नहीं सकते। हृदय में हम 'आशा पालते' हैं और 'निराशा की चोट खाते' हैं। निराशा केवल चोट पहुँचा कर ही शान्त नहीं होती, उस चोट को हमें खाना भी पड़ता है। हम लोगों में सभी सीधे आदमी हैं, ऐसा नहीं है; बहुतों का मन 'बाँका' होता है। बाँका न कहकर 'कुटिल' कहने पर भी मन की वक्र गति को ढका नहीं जा सकता। हममें से कुछ का मन छोटा होता है, कुछ का बड़ा; मन में संकीर्णता होती है, उदारता या विशालता भी होती है—वह नीच या उच्च भी होता है; हम छोटी बात कहते हैं, बड़ी बात भी कहते हैं; नरम बात भी कहते हैं, गरम बात भी कहते हैं। काम का फल भोगने के सिवाय हमारी गति नहीं है। विप्लव शब्द का पहला अर्थ हम प्रायः भूल बैठे हैं, किन्तु हमारा भ्रम भी टूटता है। थोड़े में ही आज-कल हम लोगों का मन विषैला हो उठता है। हम आधुनिक साहित्यिक 'मरता क्या न करता' की-सी स्थिति में पहुँच गए हैं। और अधिक उदाहरण देने से कोई लाभ नहीं।

संक्षेप में, हृदय के किसी भी भाव को बाहर प्रकट करने पर उसे बाहर के साज में सजकर ही प्रकट होना होगा। यहाँ तक कि दैहिक अनुभूतियों को भी हम बहुत बार बहिर्वस्तु या क्रिया की अनुकृति किये बिना प्रकट नहीं कर सकते। 'सिर घूमना' नामक जो हमारी शारीरिक विकृति है, उसे हम आज तक 'घूमना' की अनुकृति छोड़कर और किसी रूप में प्रकट नहीं कर सके। 'सिर भारी होना', 'सिर में चक्कर आना', 'सिर फिरना', 'आँख जलना', 'हाथ-पैर टूटना', 'थककर चूर-चूर होना' प्रभृति स्थूल दैहिक अनुभूतियों को भी अनु-कृति के अलावा और रूप नहीं मिल सके। 'फड़कती आँख', 'कड़कड़ाती धूप'

और 'ठनकता भाषा' आदि में जो प्रच्छन्न चित्र हैं, उनका इतिहास भी बहुतों की दृष्टि के गोचर नहीं है।

आध्यात्मिक जगत् की कोई भी बात हम जागतिक वस्तु या घटना की सहायता के बिना नहीं बोल सकते। उसका पहला प्रमाण यही है कि आध्यात्मिक शब्द के साथ आरम्भ में ही जगत् शब्द बिना जोड़े हम बात बोल ही नहीं सके। भगवान् का नाम लेने पर दार्शनिकों या योगियों के मन में उनका कौन-सा स्वरूप आता है यह हमें नहीं मालूम है; किन्तु हमारे जैसे साधारण व्यक्ति के मन में अपने चिन्तन की पृष्ठभूमि में, अस्पष्ट ही सही, हमारी ही तरह हाथ-पैर वाले एक जीव की आकृति-प्रकृति जाग उठती है। जितने प्राचीन धर्म-ग्रन्थ हैं, उनमें किसी में भी रूपक के बिना धर्म-विवेचन नहीं हो सका। ब्रह्म स्वरूपतः जो भी हों, मनुष्य ने उनके साथ अपने जितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये हैं, सबमें वे सब मानवीय प्रेम की उपमा पर आधारित हैं। इस तथ्य की चरम परिणति हम वैष्णव शास्त्रों में एवं वैष्णव साहित्य में देख पाते हैं।

कुल मिलाकर हम यह देख पाते हैं कि चित्र काव्य के भूषण-स्वरूप ही नहीं हैं, चित्र के बिना हमारी भाषा चल ही नहीं सकती—हम मन के भाव व्यक्त ही नहीं कर सकते। संगीत एवं चित्र के माध्यम से ही हमारी भाषा एकदम इन्द्रियग्राह्य हो उठती है, और उस इन्द्रियग्राह्य भाषा के द्वारा मन के संसार को हम प्रत्यक्ष करते हैं—भाषा के माध्यम से इस प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा ही एक हृदय का रस-सम्भार दूसरे हृदय में संक्रमित होता है।

कालिदास की सालंकार भाषा ही यथार्थ काव्यभाषा है

तो हमने देखा कि शब्दालंकार या अर्थालंकार, दोनों में कोई भी काव्य का भूषण-मात्र नहीं है। कवि के मन की रसप्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिए भाषा में निरन्तर अलंकारों का प्रयोजन होता है। वास्तव में हमारे शब्द का अर्थ उसकी ध्वनि और चित्र-सम्पदा पर इतना निर्भर करता है कि इस समस्त संगीत, ध्वनि-माधुर्य और चित्र-सम्पदा को बाद देकर शब्द का एक निरपेक्ष अर्थ खोज निकालना बहुत बार कठिन हो जाता है।

'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में देखते हैं कि राजा दिलीप जब समस्त दिन वन-वन में वशिष्ठ की धेनु नन्दिनी को चराकर संध्या-समय आश्रम लौट रहे थे, तब रानी सुदक्षिणा—

पपौ निमेषालस-पक्ष्म-पंक्ति-

रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ (२।१६)

'अपलक, उपोषित नेत्रद्वय द्वारा राजा को पी रही थी।' राजा के साथ मुनि के आश्रम में रानी भी व्रतधारिणी थीं। समस्त दिन राजा ने जंगल में नन्दिनी की परिचर्या की थी, व्रतचारिणी रानी ने भी राजा की अनुपस्थिति में और कोई कर ग्रहण ही नहीं किया। इसीलिए रानी के दोनों नयन समस्त दिन के उपवास से, क्लिष्ट एवं तृष्णार्त्त थे। राजा जब सन्ध्या-समय लौट रहे थे, तब सुदक्षिणा के उपवास-क्लिष्ट नयनद्वय तृष्णार्त्त की तरह अपलक उनकी रूप-माधुरी का पान कर रहे थे। रानी की दर्शनाकांक्षी समग्र तीव्रता मूर्त्त हो उठी है इस एक ही उत्प्रेक्षा के भीतर—उपोषित नयनों के द्वारा रानी ने राजा को केवल देखा ही नहीं—'पपौ'—मानो पीने लगीं। यहाँ रानी की इस तीव्र, व्याकुल दर्शनेच्छा की अभिव्यक्ति करने के लिए और भाषा है ही नहीं। कवि को सीधे-सादे रूप में कहना होता, तो सम्भवत: वे कहते—रानी सतृष्ण नयनों से देखती रहीं। किन्तु 'सतृष्ण' शब्द का क्या अभिप्राय है?—उपर्युक्त उपमा ही इस शब्द में बीज-रूप से छिपी है।

कालिदास का समग्र काव्य पढ़ने से लगता है कि पृथ्वी में जहाँ जितना सौन्दर्य है, उसे व्याकुल आग्रह से उन्होंने भर-आँख पिया है। इसीलिए आँखों

द्वारा रूप-पान, यह कालिदास की प्रिय वचन-भंगिमा है। 'मेघदूत' के पूर्वमेघ में देख पाते हैं, यक्ष कहता है :

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः। (१६)

'धरणी की इस देह को श्याम शस्य से जो नवीन मेघ सुशोभित कर देगा, उस की सजल श्याम कान्ति को जनपद-वधुएँ भ्रू-विलास से अनभिज्ञ प्रीति-स्निग्ध लोचनों द्वारा आकाश की ओर मुँह उठाकर केवल पीती रहेंगी।'—इस प्रकार जनपद-वधुओं के प्रीति-स्निग्ध लोचनों द्वारा पीयमान होना, यह नवीन मेघ के लिए परम लोभ की बात है ही !

रघुवंश में भी देख पाते हैं—रामचन्द्र सीता को लेकर विमान द्वारा लंका से जब लौट रहे हैं, तब दूर से उपकूल की शोभा देखकर कहते हैं :

उपान्तवानीर - वनोपगूढा-
न्यालक्ष्यपारिप्लव - सारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदा-
दमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः॥ (१३।३०)

'दूर से दिखलायी पड़ रहा है पम्पा सरोवर; उसके किनारों को आच्छन्न कर रखा है बेतस-वन ने। उस बेतस-वन की फाँकों से अस्पष्ट रूप में दिखलायी पड़ रहे हैं चंचल सारसों के झुण्ड; ऐसे पम्पा सरोवर के शान्त-श्याम जल को श्रान्त रामचन्द्र ने अंजलि भरकर नहीं पिया, बल्कि भर-आँख पीकर ही अधिक तृप्त हुए।'

'कुमारसम्भव' में देख पाते हैं कि कामदेव के बाण से समाधिस्थ शिव का ध्यान टूट गया; एक मुहूर्त्त के लिए योगीश्वर शिव के प्रशान्त चित्त में ईषत् चांचल्य की सृष्टि हुई। देखिये, उस चांचल्य की अभिव्यक्ति कालिदास ने किस भाषा में की है :

हरस्तु किंचित् - परिलुप्तधैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि॥ (३।६७)

'चन्द्रोदय के आरम्भ में जलराशि की तरह किंचित् परिलुप्त-धैर्य होकर महादेव ने उमा के बिम्ब-फल की तरह अधरोष्ठ की ओर दृष्टिपात किया !' योगीश्वर, देवाधिदेव महादेव के योगमद में प्रशान्त चित्त के किंचित् चांचल्य को इसकी

अपेक्षा और सुन्दर रूप से नहीं कहा जा सकता। शिव के ध्यान-समाहित प्रशान्त चित्त की ईषत् धैर्य-च्युति जैसे चन्द्रोदय के आरम्भ में विराट् वारिधि-वक्ष की ईषत् उद्वेलता ! कवि ने कितनी सावधानी, कितनी निपुणता, कितनी सूक्ष्मता से शिव के इस चित्त-विक्षोभ को भाषा दी है ! चन्द्र का उदय भी अभी तक नहीं हुआ; उदय के आरंभिक क्षणों में विराट् अम्बुराशि के भीतर जो ईषत्-चांचल्य होता है, केवल उसके ही द्वारा शिव के चित्त-चांचल्य का कुछ आभास कराया जा सकता है। महेश्वर के ईषत् चित्त-चांचल्य के साथ चन्द्रोदय के प्रारम्भ में विशाल जलराशि के ईषत्-आन्दोलन की यह तुलना काव्य की किसी वेषभूषा की परिपाटी-मात्र नहीं है—इस चित्र के बिना भाषा कवि के भाव को अभिव्यक्त ही नहीं कर सकती थी। हम जिसको काव्य में भाषा का सौन्दर्य कहते हैं, वह सचमुच भाषा की सार्थकता है; अर्थात् रसानुभूति की समग्रता को वर्ण, चित्र, संगीत में जो भाषा जितना अधिक मूर्त्त कर सकेगी, वह भाषा उतनी ही सुन्दर एवं मधुर होगी।

और एक उपमा में कालिदास ने विवाह की रात को शुक्लपट्टवस्त्र-परिहित महादेव की शुभ्रफेनपुंज-शोभित समुद्र के साथ, एवं नववधू उमा की तट-भूमि के साथ उपमा दी है। 'अचिरोदित चन्द्र-किरण फेनयुक्त समुद्र को जैसे तट-भूमि के समीप अग्रसर कर देती है, वैसे ही वर-वेषी महादेव को परिचारकगण उमा के निकट ले आये' :

> दुकूलवासाः स वधूसमीपं
> निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
> वेलासकाशं स्फुटफेनराजि-
> र्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥ (७।७३)

महादेव के सम्बन्ध में कालिदास ने जब भी किसी उपमा का प्रयोग किया है, अत्यन्त सावधानी से किया है; देवाधिदेव की लोकोत्तर महिमा जिससे कहीं पर थोड़ी भी मलिन न हो, वरंच वाच्य और व्यंजना में जिससे उस महिमा का अनन्त-व्यापी प्रसार हो, कवि ने वैसी ही चेष्टा की है। पार्वत्य वनभूमि में अकाल वसन्त के समागम द्वारा जिस चांचल्य की सृष्टि हुई, उसमें भी देवदारु-वेष्टित वेदिका के ऊपर व्याघ्र-चर्म पर आसीन योगेश्वर ध्यानस्थ रहे। लतागृह-द्वारदेशस्थ नन्दी बायें हाथ में कनकवेत्र लिये मुँह पर अँगुली रखकर संकेत द्वारा प्रमथगण को चपलता प्रकट न करने का आदेश दे रहे थे; नन्दी के उस आदेश से समस्त वृक्ष निष्कम्प, अलिसमूह निश्चल, पक्षीगण नीरव हो

गए। मृगगण भी क्रीड़ा परित्याग कर शान्त हुए। इस तरह समस्त वन ही मानो चित्रलिखित-सा स्तब्ध रह गया। बाहर वसन्त और कामदेव मानो मूर्तिमान चांचल्य, और योगभूमि में अपूर्व स्तब्धता; इस परिवेश में योगस्थ महादेव का चित्र अंकित करते हुए कालिदास ने कहा है :

अवृष्टिसंरम्भ - मिवाम्बुवाह-
मपामिवाधार - मनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधा-
न्निवात-निष्कम्पमिव प्रदीपम्॥ (३।४८)

'योगेश्वर महादेव वायुसमूह को सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध कर पर्यंकबन्ध में स्थिर अचंचल भाव से बैठे हैं, जैसे अवृष्टिसंरंभ अम्बुवाह हो, निस्तरंग जलधि हो या निवात-निष्कम्प प्रदीप हो।' थोड़ा ध्यान देने पर देख सकेंगे कि वर्षणहीन मेघ के लिए कालिदास ने मेघवाची अन्य किसी शब्द का व्यवहार न कर 'अम्बुवाह' का व्यवहार किया है; जो मेघ अम्बु को ही वहन करता है एवं जो किसी भी मुहूर्त बरस सकता है, ऐसा जलभरा मेघ मानो वर्षण-संहरण कर स्तब्ध है; 'अपामिवाधारं' कथन की व्यंजना भी उसी तरह है—जो समुद्र चंचल जलराशि का ही आधार है, वह जैसे निस्तरंग होकर अचंचल है। योगेश्वर की योग-समाधि का वर्णन करने पर इसी तरह वर्णन करना पड़ता है; इसीलिए कालिदास की भाषा में थोड़ा-सा भी हेर-फेर करने पर वाचकत्व की हानि होती है।

कालिदास ने अपनी उपमा की व्यंजना द्वारा केवल देवता की महिमा को ही अनन्त व्याप्ति देने की चेष्टा की है, ऐसा नहीं; मनुष्य को भी उन्होंने इस कौशल से अनन्त महिमा दान की है। रघुवंश में कालिदास ने सगर्भा रानी सुदक्षिणा का वर्णन यों किया है :

शरीरसादाद् - असमग्रभूषणा
मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका
प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ (३।२)

'रानी की देह कुछ कृश हो गई है, इसीलिए अब समस्त भूषण शरीर पर धारण नहीं कर पा रही है। मुख भी लोध्रकुसुम की तरह पाण्डु हो गया है। इस रूप में रानी को देखकर, लगता है, मानो वह अल्प-प्रकाशित चन्द्रमा-यद्ध लुप्त-तारिका प्रभातकल्पा यामिनी हो!' इस एक उपमा द्वारा कालिदास ने

रघु के समान पुत्र की माता सुदक्षिणा के रूप का जो माधुर्य प्रकट किया है, वह साधारण भाषा द्वारा कभी प्रकट नहीं हो सकता। इस उपमा का प्रत्येक पद सार्थक है। प्रथमतः रानी सुदक्षिणा ऐसा एक पुत्र प्रसव करने जा रही है जिसके नाम से एक राजवंश चिरकाल तक परिचित रहेगा; वह गर्भिणी माता मानो प्रभातकल्पा शर्वरी है। सूर्यरूपी पुत्र को गर्भ में धारण कर आसन्न-प्रसवा विराट् रजनी की जैसी महिमामयी मूर्ति होती है, सुदक्षिणा की मूर्ति में प्रस्फुटित हो उठा है आसन्न-मातृत्व का वैसा ही गौरव! उसके गर्भ में राजपुत्र रघु है। उस आसन्न प्रसवा सुदक्षिणा के अंगों से जब विविध हीरक-रचित अलंकार खिसक कर गिर पड़ते हैं, तो लगता है जैसे प्रभातकल्पा शर्वरी की देह से उसके असंख्य नक्षत्रों के अलंकार खिसक कर गिर पड़े हैं; और सुदक्षिणा का लोध्र-पाण्डुमुख मानो ईषत्-दीप्त शेष रजनी का चन्द्रमा हो!

रघुवंश के सप्तम सर्ग में देख पाते हैं—विभिन्न देशों से समागत राजन्यवर्ग इन्दुमती की स्वयंवर-सभा में जयमाला के प्रार्थी बन उत्सुकतापूर्वक बैठे हैं। 'विद्युत् जिस तरह सहस्रों मेघखण्डों के सहस्रों भागों में विभक्त होकर दुर्निरीक्ष्य रूप से सुशोभित होती है, श्री भी उसी तरह राज-परम्परा में विभक्त होकर दुर्निरीक्ष्य रूप से विशेष-विशेष राजन्य में विशेष-विशेष प्रभा का विस्तार कर प्रकट होती थी':

> तासु श्रिया राजपरम्परासु
> प्रभा - विशेषोदय - दुर्निरीक्ष्य।
> सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः
> पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव॥ (६।५)

इस राजन्य वर्ग के सम्मुख राजकन्या इन्दुमती हाथ में माला लेकर उपस्थित है। 'माला लिये वह जिस-जिस नृपति के सम्मुख आती है, उस-उस नृपति का मुख आशा से प्रदीप्त हो उठता है; किन्तु इन्दुमती के आगे बढ़ अन्य राजा के सम्मुख चले जाते ही प्रत्याख्यात नृपति जैसे विषाद के अन्धकार में डूब जाता है।' नृपतियों की इस आशा-संजीवनी एवं विषादकारिणी इन्दुमती को कवि ने कहा है, संचारिणी दीपशिखा:

> सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
> यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
> नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
> विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (६।६७)

—अँधेरी रात में संचारिणी दीपशिखा की तरह राजकुमारी इन्दुमती एक-एक कर राजपथवर्ती सौध-समूह की तरह आसीन राजन्यवर्ग के सामने से निकल रही थी। 'प्रदीप जिस अट्टालिका के सामने आता है, वह अट्टालिका जिस तरह क्षण-भर के लिए आलोक से उद्भासित हो उठती है, उसी तरह इन्दुमती जिस राजा के सामने जाती थी, क्षण-भर के लिए वह राजा भी आशा के आलोक से उद्भासित हो उठता था; लेकिन दीपशिखा की तरह इन्दुमती के सामने से हट जाते ही वह विवर्ण हो जाता था।'

जहाँ कहीं मनुष्य के भाव के भीतर एक सूक्ष्म रमणीयता, एक असाधारण मधुरता रहती है, वहीं हमारी साधारण भाषा अपनी अक्षमता के कारण नीरव हो पीछे छूट जाती है और उसके स्थान पर आ जाती है—नाना चित्र और संगीत के माध्यम से नूतन अर्थाभिव्यक्ति लिये नूतन भाषा। रघुवंश के सप्तम सर्ग में ही देख पाते हैं—प्रबल पराक्रमी राजकुमार अज ने अपने असामान्य सौन्दर्य के कारण राजकुमारी इन्दुमती का हृदय हर लिया है एवं अपने पौरुष से समस्त ईर्ष्यापरायण प्रतिद्वन्द्वी राजकुमारों को परास्त कर दिया है। राजन्यवर्ग को परास्त कर राजकुमार अज जब इन्दुमती के निकट विजय-गर्व से लौट आया है, तब राजकुमारी मन ही मन खूब प्रसन्न होने पर भी कुमारी-जन-सुलभ लज्जा और संकोच के कारण स्वयं आकर अपने वचनों द्वारा कुमार को अभिनन्दित न कर सकीं।' सखियों द्वारा उसने राजकुमार को अपना सादर अभिनन्दन ज्ञापित किया :

हृष्टापि सा ह्री-विजिता न साक्षाद्
वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।

कालिदास यहीं नहीं रुके। कुमारी-हृदय के गर्वमिश्रित प्रथम हर्ष को लज्जा-संकोच के भीतर दबाकर रखने में जो एक भाषातीत माधुर्य है, वह साधारण वर्णन में पूरा स्पष्ट नहीं हो सका, तभी उपमा ने सहारा दिया :

स्थली नवाम्भः - पृषताभिवृष्टा
मयूरकेकाभि - रिवाभ्यनन्दत् ॥ (७६।६९)

'इन्दुमती ने सखियों द्वारा उसी तरह अपना प्रेम प्रकट किया, जिस तरह नव-वारिधारा से अभिषिक्त वनस्थली अपने मुँह से अपने प्रियतम नव जलधर से स्वागत-सम्भाषण नहीं कर पाती, मयूर की केका-ध्वनि द्वारा वह प्रियतम के निकट अपने व्रीड़ा-कुण्ठित प्रथम प्रेम का अभिवादन ज्ञापित करती है। 'कुमार-सम्भव' में भी देख पाते हैं :

तया व्याहृतसन्देशा सा बभौ निभृता प्रिये।
चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी ॥ (६।२)

'पार्वती शिव के निकट अपने विवाह की बात स्वयं न कह सकीं, सम्मुख रहने पर भी सखियों द्वारा वह बात कहलायी; जैसे वसन्तानुरक्ता आम्रशाखा वसन्त को सम्मुख उपस्थित देखकर भी स्वयं उससे संभाषण नहीं कर सकती, वह कोयल के मुख से ही अपनी बात कहलाती है।'

रघुवंश के अष्टम सर्ग में देख पाते हैं—राजकुमार अज को राज्य-भार वहन करने के उपयुक्त देखकर राजा रघु ने आत्मनिर्भरशील एवं प्रजामण्डल में पराक्रमशील कुमार के हाथ में राजलक्ष्मी समर्पित कर स्वयं संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु साश्रुनयन पुत्र का अनुरोध टाल न सके। रघु तब संन्यास-आश्रम ग्रहण कर राजनगरी के उपकण्ठ में रहने लगे, इस प्रकार अविकृतेन्द्रिय रूप से पुत्र-भोग्या राजलक्ष्मी द्वारा सेवित होने में जो कमनीय माधुर्य है, उसे कवि ने एक उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकट किया है :

स किलाश्रम - मन्त्यमाश्रितो
निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया
स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ (८।१४)

'पुत्रभोग्या राजलक्ष्मी की सेवा, अविकृतेन्द्रिय रघु को, अपनी पुत्रवधू की सेवा की तरह ही प्रतीत होती थी।'

राजा दशरथ जब वृद्ध हो उठे, तो उनके दोनों कानों के निकटवर्ती बाल पक गए—इसका वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं, 'यह तो ठीक बाल पकना नहीं है; कैकयी की आशंका से मानो वृद्धावस्था ही बाल पकने के छद्मवेश में राजा के कान में आकर कह गई—अब रामचन्द्र को राजलक्ष्मी प्रदान करो!'

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ (१२।२)

हमने देखा कि काव्य में उपमादि अलंकार अनावश्यक तो नहीं ही हैं, काव्य के आस्वादन में उनका स्थान गौण भी नहीं है; काफी मुख्य है। किन्तु ये उपमादि अलंकार हमारे अन्तर्निहित सूक्ष्म गंभीर भावों को भाषा में अभिव्यक्त करने में किस रूप में सहायक होते हैं—इस बात का विवेचन करने के लिए काव्य-सम्बन्धी कई एक मौलिक तत्त्वों का विवेचन करना आवश्यक है।

उपमा का मूल रहस्य—वासनालोक

बाहर जिस काव्य-लक्ष्मी को हम देख पाते हैं, शब्द, छन्द, ध्वनि-माधुर्य आदि नानाविध कला-कौशल में वह काव्य-लक्ष्मी हमारे अन्तर्लोक में वासना-रूपिणी मूर्ति धारण कर प्रतिष्ठित है। सुदीर्घ जीवन के प्रत्येक नगण्य मुहूर्त में, जन्म-जन्मान्तर के पल-पल में, इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जहाँ भी जो कुछ सुन्दर, जो कुछ मधुर, जो कुछ रमणीय, जो कुछ वरणीय, जो कुछ प्रेय, जो कुछ श्रेय प्राप्त किया है, उनमें से कुछ भी खो नहीं गया है—इन्द्रियों के द्वार से अन्तर्लोक में प्रवेश कर उन्होंने सृष्टि की है एक वासनालोक की। जगत् में जहाँ जो कुछ सुन्दर, और मधुर है, हमारा मन उसको तिल-तिल संग्रह कर निर्माण करता है इस तिलोत्तमा सुन्दरी का। बाहर फिर जब किसी शुभ मुहूर्त में उस सुन्दरी को देख पाते हैं—अन्तर में स्पन्दित हो उठता है वासना-सुन्दरी का सुकुमार वक्ष—उसी वासना के उद्रेक से मुक्त हो जाता है हृदय में रस का उत्स—उसी के प्रवाह से जागता है भावसंवेग—उसका ही बहिःप्रकाश है काव्य। जीवन-पथ में चलते-चलते कभी शायद किसी दिगन्त-विस्तृत श्यामल भू-खण्ड को देखकर निविड़ आनन्द प्राप्त किया है—किसी दिन शायद समुद्र के सीमाहीन प्रशान्त वक्ष को देखकर उसी कोटि का आनन्द प्राप्त किया है, फिर शायद स्तब्ध दोपहरी में सीमाहीन आकाश के निर्मल विस्तार के भीतर पाया है उसी एक ही कोटि का आनन्द! कौन कह सकता है चाँदनी रात में प्रेयसी के सुकुमार वक्ष के स्पर्श-सुख की निःसीमता के भीतर नहीं छिपा था वह दिगन्त-विस्तृत श्यामल शस्य क्षेत्र—वह प्रशान्त सागर-वक्ष, सीमाहीन नीलाकाश की अनुभूति की वह निःसीम निविड़ता! चन्द्र-सूर्यहीन म्लान आकाश के वक्ष में जल-भरे मेघ की जो छल-छल व्याकुलता देखी है, वेत्र-वन की गोदी से होकर छलछला कर बह जाने वाली ईषद् वंकिम काली नदी की जो व्याकुलता देखी है, और फिर विषाद-मलिन प्रिया की मेघ-कज्जल, अश्रु-सजल आँखों में जो व्याकुलता देखी है, हृदय में उन्होंने शायद एक ही कोटि का स्पन्दन जगाया है! प्रत्येक अनुभूति संस्कार-रूप में कर गई है मन के विगलित लाक्षा-धातु में स्पन्दन का अंकन। बहुत दिनों की वह संस्कार-राशि

एकत्रित होकर हमारी वासना का सृजन करती है। उस राज्य में एक ही अनुभूति के सूत्र में गुँथी हुई हैं समजातीय बहिर्वस्तु या घटनाएँ—एक के साथ दूसरी जैसे अविच्छिन्न रूप में मिली-जुली हैं। इसीलिए एक से जाग उठती है जैसे दूसरे की स्मृति। बाहर आज फिर जब 'नये' दृश्य, गन्ध, स्पर्श, संगीत, नया रूप धारण कर आते हैं, मन के भीतर अविच्छिन्न भाव से भीड़ लग जाती है बाहर के कारण का एक अति अस्पष्ट आभास-इंगित लिये हुए वासना में निहित उन लाखों अनुभूतियों के स्मृति-कणों की। आज उनका कोई स्पष्ट रूप नहीं है—वे सब मानो मिल-जुल गए हैं हृदय की एक गंभीर अनुभूति में; कालिदास ने स्वयं इस सम्बन्ध में कहा है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

'रम्य दृश्य देखकर अथवा मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी का भी जो चित्त व्याकुल हो उठता है, उसका कारण यह है कि जीवगण शायद तब जन्मान्तर की वासना में स्थिरबद्ध किसी सौहार्द को ही अनजाने स्मरण करते हैं!' कालिदास भी कहते हैं—'स्मरति नूनमबोधपूर्वं'—अनजाने ही अवचेतन लोक में यह स्मरण होता है। यह अबोधपूर्व स्मरण ही वासना का स्पन्दन है। बाहर की तन्त्री में आघात पड़ते ही वायुमण्डल का स्पन्दन हमारे हृदय की वासना-तन्त्री में स्पन्दन जगा देता है; मन में तब इन्द्रधनुष के सूक्ष्म वर्ण-वैचित्र्य का आभास लेकर जाग उठती है मानो जन्म-जन्मान्तर की स्मृति—इसी से होता है गंभीर रस-संचार। हमारे कला के रसास्वादन में सर्वत्र ही एक प्रच्छन्न स्मृति रहती है। इस विश्व-सृष्टि को मानो कितनी बार कितने ही प्रकार से देखा है! वह सम्पूर्ण निरीक्षण, सम्पूर्ण अनुभूति, मानो घुल-मिल गई है हमारे शरीर-मन के अणु-परमाणु में। बाहर आज जिसको अति क्षुद्र-तुच्छ देखते हैं, भीतर कितनी स्मृतियाँ समेटे, कितना बृहत् होकर हमारे हृदय पर छाया हुआ है, उसका ज्ञान हम लोगों को ही नहीं है। कालिदास ने जिसको अबोधपूर्व स्मरण कहा है, वह इसी वासना की स्मृति है। कविगण जो विश्व-सृष्टि को साधारण व्यक्ति की अपेक्षा बहुत गम्भीर, बहुत सुन्दर रूप में देखते हैं, उसका मूल कारण है वासना का पार्थक्य। जगत् एवं जीवन के सम्बन्ध में कवि जिस वासना को लेकर जीवन ग्रहण करते हैं, वह वासना

साधारण व्यक्ति की वासना से बहुत गम्भीर है, इसलिए उनकी अनुभूति भी बहुत गम्भीर होती है। रवीन्द्रनाथ ने अपने 'कड़ी ओ कोमल' काव्य-ग्रन्थ में 'स्मृति' कविता में कहा है :

> ओइ देहपाने चेये पड़े मोर मने
> येन कत शत पूर्व जनमेर स्मृति ।
> सहस्र हाराए सुख आछे ओ नयने,
> जन्म-जन्मान्तेर येन बसन्तेर गीति ।
> येन गो आमारि तुमि आत्म-विस्मरण,
> अनन्तकालेर मोर सुख दुःख शोक,
> कत नव जनमेर कुसुम कानन,
> कत नव आकाशेर चाँदेर आलोक ।
> कत दिवसेर तुमि विरहेर व्यथा,
> कत रजनीर तुमि प्रणयेर लाज,
> सेइ हासि सेइ अश्रु सेइ सब कथा
> मधुर मूरति धार देखा दिल आज ।
> तोमार मुखेते चेये ताइ निशिदिन
> जीवन सुदूरे येन ह'ते छे विलीन ।।

अर्थात्, 'उस देह को देखकर मेरे मन में सैकड़ों पूर्वजन्म की स्मृतियाँ जाग उठती हैं। हजारों खोये हुए सुख उन आँखों में हैं, मानो जन्म-जन्म के वसन्त के गीत हों। जैसे तुम मेरे ही आत्म-विस्मरण हो; मेरे अनन्त काल के सुख-दुःख-शोक हो; कितने नवीन जन्मों के कुसुम-कानन हो; कितने नवीन आकाशों के चन्द्रालोक हो। कितने दिनों की तुम विरह-व्यथा हो; कितनी रातों की तुम प्रणय की लाज हो। वही हँसी, वही आँसू, वही सब बातें मधुर मूर्त्ति धारण कर आज दिखलायी पड़ीं। इसीलिए रात-दिन तुम्हारे मुख को देखकर जीवन जैसे सुदूर में विलीन हो रहा है।' इतनी पूर्व स्मृतियाँ, इतनी वासना, अपने में समेटे होने के कारण ही वास्तविक प्रिया कवि के निकट इतनी सुन्दर एवं मधुर हो उठती है। 'चैताली' की 'मानसी' कविता में भी रवीन्द्रनाथ ने कहा है—'नारी की सुन्दरता एवं महिमा केवल उसकी वास्तव सत्ता में ही नहीं है, नारी पुरुष की 'मानसी' है :

> शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी !
> पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि

आपन अन्तर हते । बसि कविगण
सोनार उपमासूत्रे बुनिछे बसन ।
सँपियाँ तोमार 'परे नूतन महिमा
अमर करेछे शिल्पी तोमार प्रतिमा ।
... ...
पड़ेछे तोमार 'परे प्रदीप्त वासना,
अर्धेक मानवी तुमि अर्धेक कल्पना ।।

(अर्थात्, ओ नारी ! तुम केवल विधाता की ही सृष्टि नहीं हो, पुरुष ने अपने अन्तर से सौन्दर्य संचार कर तुम्हें गढ़ा है । कवियों ने सोने के उपमा-सूत्र से तुम्हारा वस्त्र बुना है । कलाकर ने तुम्हें नूतन महिमा समर्पित कर तुम्हारी प्रतिमा को अमर किया है । तुम्हारे ऊपर प्रदीप्त वासना पड़ी है; तुम आधी मानवी हो; आधी कल्पना हो !)

नारी की यह जो मानसी मूर्ति है, वही है उसकी वासनामयी मूर्ति । कवि उसके सम्बन्ध में जितनी उपमाओं के बाद उपमाएँ देते हैं, वे सब उपमाएँ ही उसकी वासना से गृहीत हैं । वासना के भीतर ही सब उपमाओं की उत्पत्ति होती है । काव्य की नारी बहुत-कुछ वासनामयी नारी है । रवीन्द्रनाथ ने काव्य की नारी के सम्बन्ध में जो बात कही है, वह केवल काव्य की नारी के सम्बन्ध में ही नहीं, समस्त काव्य-जगत् के सम्बन्ध में लागू होती है । काव्य का जगत् वास्तविक जगत् नहीं है—वह मनुष्य की मानसी सृष्टि है—वासनामयी मूर्ति है—मनुष्य की स्मृतियों की दुनिया है ।

यह स्मृति कई प्रकार की है । मनुष्य के हृदय में जो गंभीरतम स्मृति है, उसे मनुष्य की वासना कहा जा सकता है ; वह स्मृति 'अबोधपूर्व' है । इस वासना के एक परत ऊपर जो स्मृति है, उसे हम संस्कार कह सकते हैं । वह भी—वासना की तरह गम्भीर एवं अबोधपूर्व न होने पर भी—हमारे मन की ऊपरी सतह पर नहीं आता । मन की ऊपरी सतह पर तो जो आती है, परन्तु देशकालादि द्वारा परिच्छिन्न नहीं होती, ऐसी अस्पष्ट स्मृति का नाम दिया जा सकता है 'प्रमुष्टतत्ताक स्मृति' । " 'प्रमुष्ट' शब्द का अर्थ है अपहृत या लुप्त ; 'तत्ता' शब्द का अर्थ है वह-वह वस्तु । प्रमुष्टतत्ताक स्मृति का अर्थ वह स्मृति है जिसमें स्मरण तो रहता है, किन्तु क्या स्मरण हुआ, इसका बोध नहीं रहता । कवि जब अपनी खिड़की से विराट् प्रशस्त मैदान की ओर देखता है, तब उसने यदि और भी मैदान पहले देखे हों, तो वे उसे याद आ जाते हैं ; इसे ही स्मरण

कहा जाता है ; किन्तु जब किसी परिचित मैदान की बात याद नहीं आती, अथच पूर्वानुभूत एक प्रशस्तता का भाव मन में उमड़ आता है, तब उसे कहा जा सकता है प्रमुष्टतत्ताक स्मृति। इस प्रमुष्टतत्ताकँ स्मृति के पीछे रहता है संस्कार। संस्कार मन की ऊपरी सतह पर नहीं उठता ; वह एक परत नीचे रहता है। इस संस्कार के भीतर उसी तरह का मैदान देखकर नाना विचित्र अवस्थाओं में, नाना विचित्र व्यवस्थाओं में मित्रों के साथ चाँदनी रात में नदी किनारे पहले जिस आनन्द का अनुभव किया था, वह संचित हो, एक जगह पिण्डीभूत हो, स्मृति की भूमि को अव्यक्त भाव से रसपूरित कर देता है। इस प्रमुष्टतत्ताक स्मृति और संस्कार का संयुक्त नाम वासना है।"*

तो हम देखते हैं कि गहराई के आधार पर हम स्मृति के ऐसे कई भाग कर सकते हैं। प्रथम है साधारण स्मरण। मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के भीतर कुछ ऐसे धर्म हैं, जिनके द्वारा मन सदृश वस्तुओं की अनुभूति को अथवा किसी रूप में परस्पर सम्बन्ध-युक्त वस्तुओं की अनुभूति को एकत्र ही धारण कर सकता है। मन के भीतर इस तरह नाना प्रकार से परस्पर संयुक्त होने के कारण ही एक वस्तु या घटना की अनुभूति सजातीय अनुभूतिदायक वस्तु या घटना की प्रतिच्छवि को मन में जगा सकती है। यही साधारण स्मरण है। इस साधारण स्मरण के बाद है प्रमुष्टतत्ताक स्मृति—देश-काल-पात्र का स्पष्ट गुण-वर्जित एक अस्पष्ट स्मरण। इसके बाद है संस्कार—फिर गम्भीरतम स्मृति या हमारी वासना।

उपमा-प्रभृति अर्थालंकारों के पीछे भी किसी न किसी प्रकार की स्मृति रहती है। स्मृति-वैचित्र्य से ही अलंकार में वैचित्र्य आता है। इसलिए देख पाते हैं कि इस स्मृति के माध्यम से उपमा-प्रभृति अर्थालंकार काव्य के मूल धर्म के साथ ग्रथित हो गए हैं।

हमने देखा कि भाषा की सहायता से हम जिसे काव्य में रूपान्तरित करना चाहते हैं, वह कोई एकदम बाह्य वस्तु या बाह्य घटना नहीं है—वह किसी बहिर्वस्तु या घटना का अवलम्बन कर हमारे चित्त की वासना का जो उद्रेक है, वही है। इस वासना की कोई स्पष्ट मूर्ति नहीं है, इसीलिए उसे स्पष्ट रूप से किसी भाषा की सहायता से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए जब किसी वासना का उद्रेक होता है, तब हमने जिस प्रकार के वस्तु-समूह द्वारा

---

* साहित्य-परिचय—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, पृष्ठ १४-१५

उस प्रकार की वासना प्राप्त की है, उस प्रकार की समस्त वस्तुओं का चित्र अंकित कर उसे बाहर प्रकट करना चाहते हैं। तभी आती है उपमा के बाद उपमा—उत्प्रेक्षा के बाद उत्प्रेक्षा—मानो इस तरह, मानो इस तरह—किन्तु ठीक किस तरह—वासना की उस मूर्ति को कवि स्वयं ही मानो प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। 'कादम्बरी' का कवि केवल 'इव' के बाद 'इव' बैठाता जाता है—किन्तु फिर भी मानो वासना के रंग को किसी भी प्रकार से बाहर अंकित नहीं कर पा रहा है—कोई भी रंग मानो उस वासना के रंग के समान नहीं हो रहा है। बहिर्वस्तु या घटना के अवलम्बन द्वारा कवि के मन में जो वासना जाग उठती है, उसी वासना का फिर सहृदय पाठक के मन में उद्रेक हो उठता है भाषा के माध्यम से। इसीलिए कवि पाठक के सम्मुख सजातीय चित्र के बाद चित्र उपस्थित कर संगीत एवं चित्र में उस वासना को जगाता है। तब वक्तव्य वस्तुओं को बहुत बड़ा बनाकर, बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहना पड़ता है—उसे विचित्रतापूर्ण बनाकर उसका आभास देना पड़ता है। पहले देख आये हैं कि चित्र के बाद चित्र अंकित करने के लिए कवि को नये सिरे से सृष्टि को नहीं देखना पड़ता, साधर्म्य के योगसूत्र के कारण ही एक के बाद दूसरा चित्र जुड़ता जाता है। इसीलिए कवि की कल्पना उसकी पूर्वानुभूति के ऊपर बहुत अधिक निर्भर करती है। इस पूर्वानुभूति को बाद देकर मन नये सिरे से कुछ गढ़-बना नहीं सकता। इस तरह ही समस्त अर्थालंकारों की सृष्टि होती है ; इस तरह ही वे भाषा के दैन्य को बहुत बड़ी मात्रा में दूरकर हृदय की वासना के उद्रेक से उत्पन्न भाव-संवेग को बाहर प्रकट करने में सहायता पहुँचाते हैं।

हम पहले ही देख आये हैं कि संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में हम जितने प्रकार के अर्थालंकारों का संधान पाते हैं, सबके पीछे एक मूल सत्य है—वस्तु के साथ वस्तु का कोई-न-कोई साधर्म्य या सामान्य गुण। वस्तु का प्रकृतिगत यह साधर्म्य ही मन के भीतर सजातीय अनुभूति की सृष्टि करता है। इन अनुभूतियों के संस्कार एवं प्रमुष्टतत्ताक स्मृति एकत्र हो जिस वासना की सृष्टि करते हैं, उसी वासना के भीतर समधर्मी समस्त वस्तुएँ सूक्ष्म बीजरूप में विधृत रहती हैं। यहाँ मनोराज्य के भीतर इन समस्त समधर्मी वस्तुओं में निहित रहता है एक सूक्ष्म योग-सूत्र। यह सूक्ष्म योग-सूत्र ही है समस्त अर्थालंकारों का मूलभूत कारण-स्वरूप ; इसी के नाना रूप-वैचित्र्यों से उत्पन्न हुए हैं अर्थालंकारों के विभिन्न भेद।

हमने कहा है कि कवि जहाँ नारी-सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहाँ वह

नारी कोई वास्तविक नारी नहीं होती ; किसी वास्तविक नारी के अवलम्बन से अन्तर में जो वासनामयी नारी-मूर्ति जाग उठती है, उसी वासनामयी नारी-मूर्ति को कवि सुर पर सुर, रेखा पर रेखा, रंग पर रंग लगाकर प्रकट करने की चेष्टा करता है । विश्व-सृष्टि में जहाँ जो कुछ भी कमनीय और मधुर है, उसके द्वारा ही प्रियतमा का रूप-वर्णन करता है । 'मेघदूत' काव्य के उत्तर मेघ में यक्ष मेघदूत को अपनी विरहिणी प्रिया के निकट वह सन्देश पहुँचाने का विशेष अनुरोध करता है :

श्यामास्वंगं चकितहरिणी - प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू-विलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ।। (४६)

अर्थात्—'हे प्रिये ! श्यामा लता में तुम्हारे अंग, चकित हरिणी की दृष्टि में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में तुम्हारा आनन-सौन्दर्य, मयूर-पुच्छ में तुम्हारा केशपाश, नदी की लघु-लघु ऊर्मियों में तुम्हारा भ्रू-विलास देखना चाहा है ; किन्तु हाय ! किसी भी वस्तु में तुम्हारा सादृश्य नहीं मिला ।'

यक्ष मेघदूत से कहता है—'यह जो मैंने श्यामा लता में अपनी प्रियतमा का अंग-लावण्य खोजने की चेष्टा की है ; चकित हरिणी के दृष्टिपात में उसकी चंचल दृष्टि को देखना चाहा है ; चन्द्रमा में उसके मुख की उज्ज्वलता, मयूर-पुच्छ में उसका केश-संभार एवं नदी की छोटी तरंगों में जो उसके भ्रू-विलासों

• इन्दुमती के वियोग से कातर अज की विलापोक्ति से तुलनीय—

कलमन्यभृतासु भाषितं
कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं
पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ।।
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां
निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं
हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ।।

(रघुवंश ८।५९-६०)

का संधान करना चाहा है, उससे ही शायद मेरी प्रियतमा मेरी धृष्टता देख कर अत्यन्त रुष्ट हो गई है—क्योंकि इनमें से किसी के भी साथ उसके किसी अंग के लावण्य की तुलना नहीं हो सकती। किन्तु मेघ ! तुम उससे अनुनयपूर्वक कहना कि स्वयं ही अपनी इतनी बड़ी भूल के लिए दुःखित हूँ। हन्त ! सचमुच मैं इनमें से किसी में भी उसका ज़रा-सा भी अंग-लावण्य नहीं पा सका। विरही यक्ष की यह जो अलकापुर-स्थित विरहिणी प्रियतमा है, वह बहुत-कुछ यक्ष की वासना की प्रियतमा है। इसीलिए बाहर कहीं भी आज मानो उसका और कोई सादृश्य नहीं मिलता—भिखारी नेत्र मानो व्यर्थ ही दर-दर ठोकर खा रहे हैं।'

'कुमारसम्भव' में उमा का रूप-वर्णन करते समय कालिदास को कितने रंगों में रंग घोलकर चित्र पर कूँची से अंकित करने पड़े हैं :

> उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं
> सूर्यांशुभिर्भिन्न - मिवारविन्दम् ।
> बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
> वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ (१।३२)

नवयौवन के उद्गम के कारण उमा का जो रूप अभिव्यंजित हो उठा, वह मानो तूलिका द्वारा अंकित एक चित्र हो। नवयौवन के स्पर्श में उसके अंगों का लावण्य जैसे सूर्य-किरणों के स्पर्श से उद्भिन्न अरविन्द की शोभा हो।' 'तूलिकयेव चित्रं' कहने से तात्पर्य यह है कि चित्र-शिल्पी जिस तरह अपनी इच्छानुसार रेखाओं, तथा वर्ण-वैचित्र्य द्वारा अपनी मानस-सुन्दरी को रूप दे सकता है, विश्व-शिल्पी विधाता ने भी ठीक उसी शिल्पी की तरह ध्यानसमाहित हो अपनी मानसी नारी को ही रेखा की सूक्ष्मता एवं वर्ण की मधुरता द्वारा मूर्त्त किया है। उमा का रूप-वर्णन करते समय राजा दुष्यन्त कहते हैं :

> चित्रे निवेश्य परिकल्पित-सत्त्वयोगा
> रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
> स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
> धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥

'लगता है विधाता ने पहले इसे चित्र में अंकित किया ; जहाँ जिस रेखा, जिस वर्ण और जिस भंगी का प्रयोजन था, पहले उन सबको इच्छानुसार चित्र में सन्निविष्ट किया; बाद में मानो उस चित्र को ही प्राणदान कर दिया।' अथवा लगता है कि यह देह मानो किसी भौतिक उपादान द्वारा गठित नहीं है; जैसे विधाता ने पहले अपने शिल्प-ध्यान में इस देह का दर्शन किया और फिर

मानस-रूपोच्चय द्वारा मन ही मन इस अपरा स्त्री-रत्न की सृष्टि की ।' शकुन्तला यहाँ केवल दुष्यन्त की ही वासना की प्रतिमूर्ति नहीं है, वह मानो विधाता पुरुष की ही वासना की प्रतिमूर्ति है !

'कुमारसम्भव' में उमा का रूप-वर्णन करते हुए कवि कहता है—'उमा के चरण-युगल जब पृथ्वीतल पर पड़ते हैं, तब उनके अँगूठों की नखकान्ति से ऐसी आरक्तिम प्रभा विच्छुरित होती है कि लगता है मानो पृथ्वीतल पर संचारमान दो स्थल-पद्म हों :

अभ्युन्नतांगुष्ठ - नख - प्रभाभि-
निक्षेपणाद् - रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस् तच्चरणौ पृथिव्यां
स्थलारविन्द - श्रियम - व्यवस्थाम् ।। (१।३३)

उमा जब चलतीं, तब लगता, 'सा राजहंसैरिव सन्नतांगी' । उद्भिन्न-यौवना किशोरी की ईषत्-बंकिम ग्रीवा-भंगी से भी लगता मानो 'राजहंसैरिव सन्नतांगी' । फिर 'उमा जिस दिन महादेव की तपस्या भंग करने के लिए चलीं, उस दिन उनके अंगों में अशोक-कुसुम पद्मरागमणि की भर्त्सना कर रहे थे, कर्णिकार-पुष्पों ने स्वर्ण की द्युति छीन ली थी—सिन्धुवार-सुमनों से उनकी मोतियों की माला गूँथी गई थी—इस तरह वसन्त का पुष्प-संभार अंगों पर धारण किये उमा चल रही थीं' ।

अशोक - निर्भर्त्सित - पद्मराग-
माकृष्ट - हेमद्युति - कर्णिकारम् ।
मुक्ता - कलापीकृत - सिन्धुवारं
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ।। (३।५३)

इस 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' कथन में मानो वाच्यार्थ के साथ ही एक सुकुमार ध्वनि बज उठी है । अशोक, कर्णिकार एवं सिन्धुवार-पुष्पों से सज्जित उमा तो 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' है ही ; किन्तु उसके साथ ही साथ मानो ध्वनित हो उठे हैं अंग-अंग में नवयौवन के वासन्ती फूल ! शकुन्तला के अंग-अंग में कुसुम की तरह यौवन खिल उठा है :

अधरः किसलयरागः
कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं
यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ।।

'अधर मानो नवोद्गत पल्लव की तरुणिमा है, बाहु-युगल मानो कोमल विटप हैं, और कुसुम की तरह प्रस्फुट यौवन मानों समस्त अंगों में दृढ़तापूर्वक बँधा पड़ा है।'

उमा जब वसन्त-पुष्पाभरणों से भूषित हो संचरण कर रही थीं, तब लगता था :

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्प - स्तवकावनम्रा
संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ (३।५४)

'स्तनद्वय के भार से ईषत् अवनमित, तरुण अरुणवत् रक्तवर्ण वस्त्रों से परिहित पार्वती मानो प्रचुर पुष्पस्तवक से अवनम्र संचारिणी पल्लविनी लता हों!' उत्प्रेक्षा की समस्त ध्वनि केवल अत्यन्त मनोहर ही नहीं है, इसका प्रत्येक शब्द सार्थक है। एक ओर स्तन-भार के कारण कुछ झुकी हुई नवयौवना उमा, दूसरी ओर पर्याप्त पुष्पों के स्तवकभार से विनम्र लता; एक ओर उमा के वस्त्रों का तरुणार्क राग, दूसरी ओर पल्लविनी के नव किसलयों की आरक्तिम वर्णच्छटा; और गतिशीला उमा के कृश अंगों की भंगिमा मानो संचारिणी पल्लविनी की लास्य-भंगी हो!*

महेश्वर द्वारा प्रत्याख्यात होने पर उमा ने अपने नवयौवन के रूप-संभार की स्वयं ही अपने हृदय में निन्दा की थी। अपनी 'अवन्ध्यरूपता' के लिए पार्वती ने कठोर तपस्विनी की मूर्त्ति धारण की। तब मानो पुनः ग्रहण करने की इच्छा से उमा अपने शरीर का समस्त रूप-माधुर्य एक-एक वस्तु या प्राणी को सौंप गई :

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया
द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं
विलोलदृष्टं हरिणांगनासु च ॥ (५।१३)

'तन्वी लतिका को उमा अपना विलास-विभ्रम सौंप गई और चंचला हरिणी को अपने नेत्रों की चंचला चितवन।'

---

*तुलनीय—इमां तटाशोकलतां च तन्वीं
स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम्। (रघुवंश १३।३२)

अवश्य ही इससे भी अधिक सौकुमार्य प्रकट हुआ है उमा के प्रथम यौवन-वर्णन के समय। यहाँ कहा गया है :

प्रवात - नीलोत्पल - निर्विशेष-
मधीरविप्रेक्षित - मायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगांगनाभ्य-
स्ततो गृहीतं नु मृगांगनाभिः ॥ (१।४६)

आयताक्षी उमा की वायु-विकम्पित नीलोत्पल की तरह जो चकित चितवन है, वह उन्होंने मृगांगनाओं से ग्रहण की थी, या मृगांगनाओं ने ही उनसे ग्रहण की थी ?' यहाँ उपमा द्वारा व्यंजित जो साधर्म्य है, वह सन्देह द्वारा समधिक चमत्कार-पूर्ण हो गया है।

'विवाह के पूर्व मंगलस्नाता स्वामिमिलन-योग्या धौतवसना पार्वती शोभित हो रही थी मेघवारिवर्षण से अभिषिक्ता विकसित शुभ्र काश-शोभिता वसुधा की ही तरह' :

सा मंगलस्नान - विशुद्धगात्री
गृहीतपत्युद्गमनीय - वस्त्रा।
निर्वृ त्तपर्जन्य - जलाभिषेका
प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ (७।११)

सादृश्य की अपेक्षा यहाँ व्यंजना का चमत्कार लक्षणीय है। महादेव और उमा का मिलन कुमार-सम्भव के लिए है। माता धरित्री वर्षा में स्नान करती हैं; तदुपरान्त शरद् में काश-कुसुम के रूप में धौत वस्त्र धारण करती हैं। उमा का शिव से मिलन और कुमार-संभावना की अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण व्यंजना प्रस्फुटित हो उठी है धरित्री के साथ उमा की इस उपमा में। उसके बाद देखते हैं विवाह से पूर्व सखियों द्वारा सज्जिता पार्वती को :

सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव
ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानै-
रामुच्यमानाभरणा चकाशे ॥ (७।२१)

नाना 'आभरणों से भूषिता उमा मानो एक कुसुमित लता हो—मानो नक्षत्रो-द्भासित रजनी हो—मानो विहंग-शोभिता तटिनी हो !'

तदुपरान्त देखते हैं :

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा
पर्याप्तचन्द्रेव शरत् - त्रियामा ।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा
भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥ (७।२६)

'नवदुकूल-निवासिनी और दर्पणहस्ता पार्वती मानो सफेनपुञ्ज समुद्र-वेला हों—मानो परिपूर्ण चन्द्र से शोभिता शरत्-रजनी हों !' यह अच्छी तरह समझ में आता है कि कवि-चित्त की विराट् अनुभूति में नारी-सौन्दर्य एवं विश्व-सौन्दर्य मिल-जुलकर एक हो गए हैं ।

विवाह के बाद पुरोहित ने वर-वधू हर-पार्वती से यज्ञ सम्पन्न कराया । इस यज्ञ-कार्य में आचार पालन करते समय लाज-धूम से वधू पार्वती के कपोल ईषत्-घर्माक्त और अरुण-वर्ण हो उठे, नयनों का कृष्णांजन राग स्फीत हो गया एवं यवांकुर-विरचित कर्णाभरण म्लान हो गए । यज्ञ-प्रतप्ता पार्वती से पुरोहित ने कहा—वत्से, यह वह्नि तुम्हारे विवाह की साक्षी है; अब तुम अविचारित चित्त से पति महादेव के साथ धर्म-कार्य का अनुष्ठान किया करना । यज्ञान्त में पुरोहित की यह वाणी पार्वती को कैसी लगी :

आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य
पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
निदाघ - कालोल्बण - तापयेव
माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्याः ॥ (७।८४)

'नेत्रों की कोर तक हैं विस्तृत कर्णयुगल जिनके, ऐसी पार्वती मानो साग्रह उस कथन को ऐसे पीने लगीं, जैसे प्रथम पतित वृष्टि-जल को निदाघ-संतप्त पृथ्वी पीती है ।'

उमा के अङ्गों में जो भाव-भंगिमारूपी पुलक है, उसे कालिदास ने एक उपमा में अपूर्व रूप प्रदान किया है :

विवृण्वती शैलसुतापि भाव-
मंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः । (३।६८)

'उमा के अंगों में जो भाव-भंगिमा है, वह मानो विकसित बाल कदम्ब है ।' भवभूति ने भी सीता के वर्णन में इस उपमा को ग्रहण किया है । वहाँ प्रिय-स्पर्श-सुख से सीता की स्वेदयुक्त, रोमांचित एवं कम्पित देह की पवनान्दोलित नववर्षा से सिक्त स्फुट-कोरक कदम्ब-शाखा के साथ तुलना की गई है :

सस्वेदरोमांचित - कम्पितांगी
जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा।
मरुन्नवाम्भः प्रविधूतसिक्ता
कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥

परवर्ती काल के वैष्णव कवि गोविन्ददास ने महाप्रभु श्री चैतन्य के भाव-पुलक का वर्णन करते हुए इस उपमा का चमत्कारपूर्ण व्यवहार किया है।*

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में देख पाते हैं—आलवाल को जल से सींचती हुई शकुन्तला से अनसूया कहती है—'हला सउन्दले तुवत्तो वि ताद कण्णस्स इमे अस्सम्मरुक्खा पिअदरे त्ति तक्केमि, जेण णोमालिया-कुसुम-पेलवा वि तुमं आलवालपूरणे णिउत्ता।'—अर्थात् 'सखि शकुन्तले! मुझे लगता है कि ये आश्रम के वृक्ष तात कण्व को तुम्हारी अपेक्षा भी प्रियतर हैं; क्योंकि नवमालिका-कुसुम-कोमला, तुम्हें भी इनके आलवालपूरण के लिए नियुक्त किया है।' अनसूया के इस एक परिहास-वचन मात्र से ही मानो नवयौवना शकुन्तला का 'णोमालिया-कुसुम-पेलवा' रूप उद्भासित हो उठा। इसके दूसरे क्षण ही देख पाते हैं, शकुन्तला कह रही है—'सखि अनसूये! प्रियम्वदा ने वल्कल बहुत कसकर बाँध दिया है; तुम जरा ढीला कर दो।' प्रियम्वदा कुछ हँसकर उत्तर देती है—'अपने उद्भिन्न यौवन को ही दोष दो; मुझे क्यों देती हो!' यह शकुन्तला ही तो 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्' है! वल्कल-परिहिता शकुन्तला के सम्बन्ध में राजा दुष्यन्त ने कहा था :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

'शैवाल द्वारा आवृत होने पर भी कमल रम्य रहता है; पूर्ण चन्द्र की शोभा कलंक-चिह्न के स्पर्श से भी विकसित होती है; किन्तु 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी'—शकुन्तला की तन्वी देह-यष्टि मानो वल्कल से आवृत होने पर अधिक मनोज्ञ हो उठी है।' स्वभाव-सुन्दर वस्तु निराभरण होकर, असज्जित

---

*नीरद नयाने नीर घन सिञ्चने
पुलक-मुकुल-अवलम्ब।
स्वेद-मकरन्द बिन्दु बिन्दु चूयत
विकसित भावकदम्ब ॥

स्थान में रहने पर भी केवल अपने सौन्दर्य की रक्षा करती है, ऐसा नहीं; बल्कि अयत्नरक्षित भाव से विजातीय वस्तु के संस्पर्श में उसका स्वभाव-सौन्दर्य मानो अपूर्व चारुता प्राप्त करता है। मन की पृष्ठभूमि में वहाँ परस्पर तुलना-जनित पार्थक्य का बोध रहता है—इस पार्थक्य के कारण ही वह अधिक मनोज्ञ हो उठती है। कहाँ कुसुम-कोमल शकुन्तला का नवयौवन का दुर्लभ तनु, और कहाँ तरुलतावृत मुनि का आश्रम—कहाँ वल्कल-परिधान और जलपूर्ण कलशी के भार से पीड़ित हो आलवाल में जल-सेचन! किन्तु तो भी लगता है कि नगर की उद्यान-लता से 'इयमधिकमनोज्ञा'। इसीलिए सखियों के साथ आलवाल में जलसिंचन करती हुई शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त ने जो कहा था—'दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः'—अर्थात् इन वनलताओं ने समस्त नागरिक उद्यान-लताओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है—यह अत्यन्त सत्य कथन है।

'कुमारसम्भव' में जटावल्कल-धारिणी उमा के सम्बन्ध में कवि ने कहा है :

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहै-
र्जटाभिरप्येवमभू - त्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं
सशैवला - संगमपि प्रकाशते ॥ (५।९)

'उमा का आनन सँवारे हुए केश-गुच्छ से जैसा शोभित होता था, जटा से भी वैसा ही शोभित हुआ। कमल केवल भ्रमर के संग ही शोभित होता है, ऐसा नहीं है—शैवाल के साथ भी उसकी शोभा वैसी ही रहती है।'

दुष्यन्त की स्मृति में जाग उठने वाली मनोमयी शकुन्तला मानो एक अनाघ्रात पुष्प है, मानो नख द्वारा अच्छिन्न किसलय है, मानो अनाविद्ध रत्न है, मानो अनास्वादित रस-मधु है, मानो पुण्यराशि का मूर्तिमान अखण्ड फल है!

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

यह केवल फूल के साथ, किसलय के साथ, रत्न या मधु के साथ शकुन्तला की तुलना-मात्र नहीं है, प्रत्येक उपमा के पीछे है राजा की उन्मथित वासना का स्पन्दन! शकुन्तला का रूप दुष्यन्त की आँखों में मानो विश्व की कामना

की प्रतिमूर्ति है—वह परम लोभनीय है। शकुन्तला के सौन्दर्य की समग्र लोभनीयता उद्भासित हो उठी है। इन उपमानों के इन्हीं कुछ विश्लेषणों में, मानो अनाघ्रात पुष्प—अच्छिन्न किसलय—अनाविद्ध रत्न—अनास्वादित रस-मधु।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक में मालविका के रूप के बारे में राजा अग्नि-मित्र कह रहे हैं—

पाण्डु गण्डस्थल एवं परिमित आभरणों से युक्त मालविका मानो 'माधव-परिणत-पत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता' हो; अर्थात्, 'मानो वसन्त के पाण्डुर-परिणत-पत्रों एवं कुछ फूलों से युक्त कुन्दलता हो।

अन्यत्र भी अग्निमित्र ने मालविका के सम्बन्ध में कहा है :

> **अनतिलम्बि - दुकूलनिवासिनी**
> **लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।**
> **उडुगणै - रुदयोन्मुख - चन्द्रिका**
> **हृतहिमैरिव चैत्र - विभावरी ॥** (५।२५)

'अनतिलम्बि दुकूल वसन-परिहिता, अल्पाभरण-सज्जिता मालविका को देखकर ऐसा लगता है मानो उदयोन्मुख मुखचन्द्रिका लिये कतिपय नक्षत्रों से भूषिता तुहिन-विहीना मधुयामिनी हो।' उदयोन्मुख चन्द्र के आनन से शोभित मधुयामिनी के साथ शुभ्र दुकूलवसन-परिहिता, परिमितभूषणा युवती नारी की रहस्यमयी मूर्ति हमारी वासना के भीतर एक होकर डूबी हुई है; इसीलिए काव्य में उसी वासना के रूपायन में उन्हें हम ऐसे अविच्छिन्न रूप में पाते हैं। सहृदय पाठक भी ऐसे समधर्मा चित्र एक के बाद एक जितने देखेंगे, उनकी वासना में भी उतने ही स्पन्दन जागेंगे—उतना ही होगा उनके हृदय में रसोद्रेक, और उनका काव्यास्वादन भी उतना ही सार्थक होगा।

यह जो उपमा के बाद उपमा, उत्प्रेक्षा के बाद उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक के बाद व्यतिरेक का समावेश कर कवि ने सुन्दरी नारी की देह-सुषमा का परिचय देने की चेष्टा की है, तब भी कवि को तृप्ति नहीं हुई—कवि कभी यह बात नहीं कह सकता कि सुन्दरी नारी के दर्शन से उसके मनोराज्य में जो वासना की नारी-मूर्ति जाग उठी थी, उसे वह कभी भी प्रकट कर सका है। कालिदास नहीं कर सके—समग्र जगत् के लक्ष-लक्ष कवि एकत्र होकर भी नहीं कर सके; इसीलिए आज भी शत-सहस्र नवीन उपमाओं की सहायता से चल रही है वह एक ही चेष्टा—अन्तर की उस वासना की नारी को किसी भी तरह आभास-

इंगित द्वारा बाहर प्रकट करने की चेष्टा।

'रघुवंश' में देख पाते हैं, 'रामचन्द्र के जन्म के बाद कृशोदरी कौशल्या शिशु रामचन्द्र को शय्या के किनारे लिटाकर उनके बगल में सोयी हुई हैं; देखकर लगता है कि शरत्-काल की क्षीण जाह्नवी मानो सैकत के प्रस्फुटित कमल-रूपी उपहार के साथ सुशोभित हो रही हैं'—

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ (१०।६६)

शरत् की क्षीण टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली स्रोतस्विनी के शुद्ध सैकत में ईषत्-रक्ताभ प्रस्फुटित कमल-कली को देखकर कवि को जो आनन्द मिला होगा, वह मानो सद्यःप्रसूत रक्तिमाभ शिशु को छाती से लगाये शुभ्र शय्या में क्षीण-शिथिल अंगों वाली सोयी हुई मातृमूर्ति के दर्शन से उपलब्ध आनन्द का ही सहोदर है। सहृदय पाठकों के चित्त में भी यदि सजातीय वासना हो, तो परस्पर सम्बद्ध दो चित्रों से वह वासना उद्रिक्त होकर उसे रस-धारा से आप्लुत कर देती है।

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं, श्री रामचन्द्र सीता से कह रहे हैं :

आसार - सिक्त - क्षिति - बाष्पयोगात्
मामक्षिणोद् यत्र विभिन्न - कोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते
विवाह - धूमारुण - लोचनश्रीः ॥ (१३।२६)

'वर्षा के नववारिपात से पृथ्वी के गात्र से भाप उठ रही है और अपने दलों को उद्भिन्न कर अरुण वर्ण का नवीन कंदली-फूल विकसित हुआ है। पृथ्वी के गात्र से उत्थित वाष्प-धूम में आवृत अरुणवर्ण नवदलभेदी कंदली-पुष्पों को देखकर रामचन्द्र को स्मरण आ रहे थे विवाह के यज्ञ-धूम से अरुणाभ सीता के कोमल पक्ष्म-भेदी लोचन-युगल।' पृथ्वी के वाष्प-धूम से आवृत एवं ईषत्-क्लिष्ट अरुणाभ कंदली-पुष्पों में एक नवीन लावण्य, एक रहस्यावृत महिमा आ गई है; नवीन मेघ का नवतम वर्षण—जो पृथ्वी के तृषित वक्ष में नवतम शीतल स्पर्श का संचार करने वाला है—जो श्रावण के घन-वर्षण की अग्रसूचना है—जिससे पृथ्वी के वक्ष में आयेगी निविड़ श्यामलता, खेत-खेत में लहलहायेगी नूतन खेती, तरु-लताओं में लगेंगे नये फल-फूल; विवाह-धूम से अरुणायित पक्ष्म-द्वय के भीतर उन्मीलित सीता-चक्षुद्वय में इसी कोटि की एक अपूर्व रहस्यमयी शोभा है—एक अकथित महिमा है; क्योंकि विवाह-धूम के पीछे है प्रेमतृषित

कुमारी-जीवन की एक नवतम तृप्ति, जो दाम्पत्य जीवन की फल-पुष्प-शोभित परिणति की अग्रसूचना है। रामचन्द्र के मन में ये दोनों ही दृश्य सम अनुभूति जगाते हैं—इसीलिए एक से दूसरे का स्मरण हो आता है।

कालिदास की उपमाओं में प्रकृति और मनुष्य का नैकट्य

अभी तक विवेचित कालिदास की उपमाओं पर ध्यान देने से हम एक बात देख सकेंगे—मनुष्य के रूप और गुण का वर्णन करते समय कालिदास ने, जहाँ तक हो सका है, प्रकृति के साथ उसकी तुलना कर उसे प्रकृति के निकटवर्ती करने की चेष्टा की है। और दूसरी ओर यह लक्ष्य कर सकते हैं कि प्रकृति के नदी-नद, पहाड़-पर्वत, वन-उपवन, वृक्ष-लता, प्रकृति का वर्णन करते समय कवि ने चेतन मनुष्य के रूप-गुण और जीवन-यात्रा के सदृश उनका वर्णन कर करके, जहाँ तक संभव हुआ है, प्रकृति को भी मनुष्य के निकटवर्ती किया है। यह कालिदास के कवि-कौशल का एक वैशिष्ट्य नहीं है—इसके द्वारा उनके कवि-धर्म का ही एक विरल वैशिष्ट्य सूचित होता है। कालिदास के काव्य पर समग्र भाव से विचार करने पर यह बात खूब स्पष्ट एवं प्रधान होकर दिखायी पड़ती है कि कवि के मन में विश्व-सृष्टि के भीतर चिद्-अचित् की भेद-रेखा मानो कहीं भी स्पष्ट नहीं है; इस सम्बन्ध में वे मानो बहुत कुछ अद्वयवाद के विश्वासी थे। वह मूल विश्वास ही मानो नाना रूप में प्रकट हुआ है उनकी उपमाओं के भीतर मनुष्य और प्रकृति की घनिष्ठ अन्तरंगता द्वारा। 'कुमारसम्भव' में उमा-सह माता मेनका की शोभातिशयता को कालिदास ने एक ही उपमा द्वारा प्रकट किया है :

> तया दुहित्रा सुतरां सवित्री
> स्फुरत् - प्रभामण्डलया चकाशे।
> विदूरभूमि - र्नवमेघ - शब्दा-
> दुद्भिन्नया रत्न - शलाकयेव ॥ (१।२४)

'जिसका प्रभामण्डल चारों ओर स्फुरित हो रहा था, ऐसी कन्या के साथ माता मेनका वैसी ही शोभित हो रही थीं, जैसे शोभित होती है नवमेघ-शब्दोपरान्त उद्भिन्न रत्नांकुर के साथ विदूरशैलभूमि।'

'रघुवंश' में भगवान् नारायण के देह-सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि

ने कहा है—'नारायण ने अपने शरीर पर जो अंकुश धारण किया है, उसकी दीप्ति तरुण सूर्य की तरह है; उनके प्रबुद्ध नेत्रद्वय मानो दो सद्यःप्रस्फुटित कमल हैं—इस तरह सर्वांग में शरत्-प्रभात की कान्ति विस्तीर्ण कर वे विराजमान हैं'—

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भ-सुख-दर्शनम् ।। (१०।६)

पूर्वोल्लिखित अनेक उपमाओं में हमने लक्ष्य किया है कि नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते समय कालिदास ने किस तरह उसे विश्व-प्रकृति के विभिन्न रूप-गुण से युक्त कर उसका वर्णन किया है। दूसरी ओर फिर देख सकते हैं कि प्रकृति का वर्णन करते समय किस तरह कवि ने उसे नारी-सौन्दर्य की छाया में ग्रहण किया है। इसीलिए वेत्रवती नदी की चंचल ऊर्मियों को उन्होंने 'सभ्रूभंगं मुखमिव' देखा है (पूर्वमेघ २४)। इसके बाद निर्विन्ध्या नदी, जो मेघ की प्रणयिनी की तरह है :

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।

(पूर्वमेघ २४)

'तरंगक्षोभ के द्वारा चंचल विहगगण ही जिसके कांचीदाम हैं—जल का आवर्त्त ही जिसकी नाभि है—एवं इन सबके द्वारा ही जो हाव-भाव से मेघ को आकृष्ट करने की चेष्टा करेगी। हाव-भाव के द्वारा प्रणय-प्रकाशन के लिए समुत्सुका होने पर भी यह निर्विन्ध्या मेघ के विरह में विरहिणी है—

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरु-भ्रंशिभि-र्जीर्णपर्णैः ।

(पूर्वमेघ २६)

'निर्विन्ध्या का जलप्रवाह एक वेणी की तरह कृश हो गया है; तीरवर्ती वृक्षों के जीर्ण पत्रों के समूह द्वारा उसने पाण्डुच्छाया धारण की है'—ये सब उसके विरह के चिह्न हैं। इसके बाद ही है शिप्रा नदी; उस शिप्रा नदी से प्रवाहित होने वाला पवन प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम की तरह है—शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः'; उसके इस प्रार्थना-चाटुकारत्व को वर्णन में देखते हैं :

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोद-मैत्रीकषायः । (वही ३१)

वह पवन प्रत्यूष में सारसों के मधुर, अस्फुट, मनोहर रव को विस्तार कर एवं प्रस्फुटित पद्म की सुगन्धि बनकर बहता है। उसके बाद देख पाते हैं, धीरा नायिका गंभीरा नदी की छवि। यक्ष मेघ से कहता है—'इस गंभीरा नदी के विमल जल के प्रसन्न चित्र में तुम छाया-रूप ग्रहण कर प्रवेश करना; उसके कुमुद-धवल चटुल शफरी के उद्वर्त्तन-रूपी दृष्टिपात को व्यर्थ करना तुम्हारे लिए किसी भी तरह उचित न होगा :

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यात्
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि॥ (वही ४०)

'उस गंभीरा नायिका का नील सलिल ही है नील तरल वसन, बेतस-शाखा से युक्त होने के कारण वह हटा हुआ सा नील वसन मानो किंचित् करधृत वस्त्र की तरह प्रतीत होगा—और वह नील वसन हट जाने से मुक्त उसका पुलिन-रूपी जघन देश :

तस्याः किञ्चित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्। इत्यादि
(वही ४१)

कैलाश पर्वत-स्थित अलकापुरी का वर्णन करते हुए कवि ने 'मेघदूत' में कहा है :

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
(वही ६३)

कैलाश पर्वत की गोद में सुन्दरी अलकापुरी मानो प्रणयी की गोद में आत्म-समर्पिता प्रणयिनी है; और उस पहाड़ की छाती में अलकापुरी को घेर कर टेढ़ी-मेढ़ी हो जो तुषार-धवल गंगा प्रवाहित हो रही है, वह मानो उस प्रण-यिनी का विगलित दुकूल-वस्त्र है—'स्रस्तगंगादुकूलाम्'!

'ऋतुसंहार' में शरद्-वर्णन के अन्तर्गत देख पाते हैं :

चञ्चन्मनोज्ञशफरी रसनाकलापाः
पर्यन्त - संस्थितसिताण्डज - पंक्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्त - नितम्बबिम्बा
मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य॥ (३)

'शरत् काल की नदी मदालसा मन्थर-गामिनी नारी है। चंचल, मनोहर, श्वेत शफरीसमूह मानो उसका श्वेत कांचीदाम है—उभय कूलों की श्वेत हंस-माला मानो कण्ठ-हार है—और विशाल पुलिन-देश मानो उसका नितम्ब है।'

'विक्रमोर्वशी' में भी देख पाते हैं :

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहग - श्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥ (४।७३)

क्रुद्धा मानिनी प्रियतमा आज मानो इस नदी का रूप धारण कर चली जा रही है—'तरंगमाला मानो उसके भ्रू-भंग हैं, चंचल विहग-श्रेणी उसका कांचीदाम है। इधर-उधर विक्षिप्त फेन-पुंज मानो उस क्रोध-कंपितांगी के स्खलितप्राय वस्त्र हैं; इसीलिए मानो अपने हाथों से उन्हें गिरने से रोक रही है। वह प्रतिहिता नदी मानो अपने प्रियतम के पथ पर उच्छल वेग से क्रुद्धा विपथुमती स्त्री की भाँति ही सवेग चली जा रही है।'

'रघुवंश' में कालिदास ने अट्टालिका के ऊपर से दीख पड़ने वाली स्वर्णाभ-चक्रवाक-मिथुन-खचित टेढ़ी-मेढ़ी यमुना का वर्णन भूमि की स्वर्ण-खचित एलामित वेणी की तरह किया है :

तत्र सौधगतः पश्यन् यमुनां चक्रवाकिनीम्।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये॥ (१५।३०

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में देखते हैं राजा 'सेन्द्रगोपं शाद्वलं' अर्थात् इन्द्रगोप घास के साथ युक्त अचिरोद्गत दूर्वादल को प्रिया का 'शुकोदरश्यामं स्तनांशुकम्' (४।३४) समझ बैठते हैं।

'ऋतुसंहार' में, वर्षाऋतु में पृथ्वी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है :

प्रभिन्न - वैदूर्य - निभैः - स्तृणांकुरैः
समाचिता प्रोत्थित - कन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतर - रत्नभूषिता
वरांगनेव क्षिति - रिन्द्रगोपकैः॥ (५)

'दलित वैदूर्यमणि की तरह श्यामल तृणांकुरों, नवोद्गत कंदली-पत्रों एवं (वर्षाकालजात) इन्द्रगोप घास (अथवा इन्द्रगोप कीट) से समावृत होकर अशुक्ल-रत्नभूषिता वरांगना की तरह क्षिति सुशोभित हो रही है।'

वर्षा की आविलस्रोत-समृद्धा चंचला नदी के वर्णन में देखते हैं :

निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्
प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः
प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ (७)

'अनिर्मल प्रवृद्धवेग सलिल-समूह के द्वारा उभय तीरवर्ती तट-तरुवृन्द को निपातित कर नदियाँ सुदुष्टा स्त्रियों की तरह जात-विभ्रमा होकर क्षिप्रता से समुद्र की ओर प्रधावित हो रही हैं।'

वर्षा में वनान्त के वर्णन में देखते हैं, नवीन जल-वर्षण से वनान्त का समस्त ताप दूर हो गया है—'खिले हुए फूलों से लदे कदम्ब-वृक्षों के द्वारा उसके आनन्द की अपूर्व अभिव्यक्ति हो रही है—चारों ओर के वृक्षों की शाखाएँ पवन के द्वारा आन्दोलित हो रही हैं; मानो वह वनान्त का आनन्द-नृत्य है; और केतकी-पुष्प के सूचीवत् किंजल्क के द्वारा वनान्त की हँसी आज फूट पड़ रही है।'—

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्
पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां
नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥ (२३)

वर्षा के बीत जाने पर शरत्-वधू का आगमन होता है—वह मानो नव-वधू है। 'काशांशुक उसका परिधान है ; विकसित पद्म की तरह मनोज्ञ उसका मुखड़ा है, उल्लासमत्त हंसों के आनन्दरव की तरह उसका रम्य नूपुर-नाद है। आपक्व शालिधान्य के कारण वह रुचिरा है ; ऐसा ही है तन्वंगी रूपरम्या शरत् का नववधू-वेश'—

काशांशुका विकच-पद्म-मनोज्ञ-वक्त्रा
सोन्माद - हंसरव-नूपुर-नादरम्या ।
आपक्व-शालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ (१)

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि कालिदास ने दो उच्च कूलों के मध्य प्रवाहित नदी की तुलना नारी के कण्ठ में सुशोभित मुक्तामाला के साथ स्थान-स्थान पर की है। 'मेघदूत' में चर्मण्वती के वर्णन में देखते हैं :

'एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् (४६)। रघुवंश में मन्दाकिनी

के वर्णन में कहा गया है :

एषा प्रसन्नस्तिमित - प्रवाहा
सरिद्विदूरान्तर भावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ।। (१३।४८)

पर्वत के उपकण्ठ में नदी की धारा का मुक्तावली के रूप में वर्णन करने की एक विशेष सार्थकता है। दो पर्वत-शिखरों के साथ नारी के स्तनों की उपमा से मिलकर नदी की यह मुक्तामाला की उपमा पूर्णता प्राप्त करती है। इसीलिए नारी के वक्ष में हार के साथ दो शिखरों को स्पर्श करने वाली नदी की उपमा भी स्वाभाविक रूप से ही आती है। कालिदास की उपमा में इसका आभास भी है ; जैसे—'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म-वर्णन में :

पयोधराश्चन्दनपंक - चर्चिता-
स्तुषार गौरार्पित - हारशेखराः । (६)

कालिदास की उपमाओं में आनुपातिक सम्बन्ध

हमने पहले ही देखा है कि हमारी स्मृति में भी गम्भीरता के स्तर हैं ; हमारी सब ही उपमाएँ वासना के अतल तल में दबी हुई हैं, यह बात नहीं कही जा सकती । बहुत बार उपमाएँ हमारी साधारण स्मृति से भी आ सकती हैं । हमने देखा है कि समजातीय वस्तुओं को मन के भीतर विधृत कर रखने की हमारे मन की एक क्षमता है ; फिर हमारी चित्तवृत्ति के भीतर ऐसा भी एक धर्म है जिसके फलस्वरूप एक वस्तु की अनुभूति अपने से युक्त अन्यान्य अनुभूतियों को भी मन में जगा सकती है—इसी को स्मरण कहते हैं। बहिर्वस्तुओं की अनुभूतियों के लिए, जो वस्तु-सादृश्य के द्वारा ही मन में विधृत रहती हैं—ऐसी बात नहीं कही जा सकती ; कार्य-कारण, अंग-अंगी, शेष-शेषी प्रभृति रूपों में भी वस्तुओं का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उस सूत्र से भी वस्तु की अनुभूति बहुत बार हमारे मन में एक होकर रहती है । वस्तुओं का यह शेषोक्त सम्बन्ध ही अर्थान्तरन्यास प्रभृति अलंकारों की सृष्टि करता है ।

देहगत सादृश्य को छोड़कर गुण-कर्म-सादृश्य द्वारा जब वस्तुओं का सम्बन्ध हमारे मन के भीतर युक्त रहता है, तब सर्वदा ही उनके भीतर एक प्रकार का उपमान-सम्बन्ध (Relation of analogy) रहता है। दो वस्तुओं के गुण या कर्म जब समजातीय होते हैं, तभी रूपगत समस्त वैसादृश्य के बावजूद मन के भीतर वे एकत्र ग्रथित हो रहते हैं । इसीलिए आलंकारिकों ने उपमान एवं उपमेय में जो सादृश्य की बात कही है, उसका नाम दिया है साधर्म्य या सामान्य गुण । 'कुमारसम्भव' में कालिदास ने कहा है :

> तां हंसमालाः शरदीव गंगां
> महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
> स्थिरोपदेशा - मुपदेशकाले
> प्रपेदिरे प्राक्तन - जन्म - विद्याः ॥ (१।३०)

'जैसे शरत्-काल की गंगा में हंसमाला अपने-आप उड़ आती है—रजनी की महौषधि से दीप्ति जैसे स्वतः प्रकाशित होती है, वैसे ही प्राक्तन जन्म की विद्या उपदेश के समय मेधाविनी उमा को प्राप्त हुई।' यहाँ यदि हम उपमा का विश्लेषण करें, तो देख पायेंगे कि इन सब चित्रों के भीतर एक अनुपात-सम्बन्ध के कारण ही योगसूत्र बना हुआ है। इस सम्बन्ध का हम इस तरह विश्लेषण कर सकते हैं : शरत् की नदी के लिए जैसी हंसमाला है, रजनी की महौषधि के लिए जैसी स्वयं प्रकाश-ज्योति है, उपदेश-काल में मेधाविनी उमा के लिए प्राक्तन जन्म की विद्या की स्वतःस्फूर्ति भी वैसी ही है। शरत्-गंगा के साथ हंसमाला का जो सम्बन्ध है, मेधाविनी उमा के साथ प्राक्तन विद्या का ठीक वही सम्बन्ध है। गणित की भाषा में हम इसे एक तरह का आनुपातिक सम्बन्ध कह सकते हैं एवं गणित के सूत्र में इसको इस तरह लिख सकते हैं—

शरत् की गंगा : हंसमाला : : उपदेश काल में स्थिरोपदेशा

रजनी की महौषधि : आत्मभास उमा : प्राक्तन-जन्म-विद्या

यहाँ उपमा की सार्थकता प्रधानतः इस आनुपातिक सम्बन्ध के ऊपर ही निर्भर करेगी। यह सम्बन्ध जितना निर्भ्रान्त, जितना सुष्ठु, जितना सर्वांग-सुन्दर होगा, उपमा भी उतनी ही सुन्दर होगी। ऊपर के उदाहरण में देखते हैं—शरत् की गंगा में हंसमाला के उड़कर आने का जैसे प्राकृतिक नियम है, रात्रि में औषधि का प्रज्वलन भी जैसे स्वतः-स्फूर्त है, मेधाविनी उमा के चित्त में प्राक्तन विद्या भी वैसी ही स्वतःस्फूर्त है। यहाँ प्राकृतिक विधान में यह स्वतः-स्फूर्ति ही आनुपातिक सम्बन्ध है। उमा के चित्त में प्राक्तन विद्या की स्वतः-स्फूर्ति, शरत् की गंगा में हंसमाला के आगमन एवं रजनी की औषधि में आत्म-भास की तरह ही अति सुष्ठु रूप से प्रकाशित हुई है, इसीलिए उपमा सार्थक है। यहाँ और भी देख पाते हैं कि इस आनुपातिक सम्बन्ध के अतिरिक्त भी शरत् की गंगा के साथ तन्वी उमा का, एवं शुभ्र हंसमाला तथा औषधि की स्वयंदीप्ति के साथ शुभ्रोज्ज्वल विद्या का एक सुकुमार सादृश्य है—इस सादृश्य-माधुर्य एवं आनुपातिक सम्बन्ध की सुष्ठुता ने ही समग्र उपमा को सार्थक महिमा प्रदान की है।

इस आनुपातिक सम्बन्ध का प्रश्न साधारण उपमा के भीतर भी छिपा रहता है। 'रघुवंश' में राजकुमार अज की वर्णना में देखते हैं—क्षत्रिय राज-कुमार अज ब्राह्मण्य संस्कारों से संस्कृत होकर तेजस्विता में और भी दुर्द्धर्ष

हो उठा है, क्योंकि क्षात्रतेज के साथ ब्राह्मण्य तेज का मिलन ठीक जैसे अग्नि के साथ पवन का मिलन है :

स बभूव दुरासदः परै-
गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं
सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ (८।४)

यहाँ भी इस कथन को गणित की पद्धति से स्पष्ट रूप से इस तरह उपस्थापित किया जा सकता है :

अस्त्रतेज या क्षात्रतेज : ब्राह्मण्यतेज : : अग्नि : पवन—इस आनुपातिक सम्बन्ध में मूल का माहात्म्य जहाँ बड़ा हो जाता है, वहीं 'व्यतिरेक', 'अधिकारूढ़-वैशिष्ट्य' प्रभृति अलंकार होते हैं। 'कुमारसम्भव' में ही देख पाते हैं, 'विवाह से पूर्व पुर-नारियाँ उमा के गौरवपूर्ण अंगों में शुक्ल अगुरु का लेपन कर उन्होंने गोरोचना द्वारा पत्रांकित कर देती हैं। उमा की देह में गोरोचना के उस पत्रांकन के सम्मुख श्वेत सैकत-राशि में प्रवाहिता चक्रवालशोभिता गंगा के लावण्य ने भी हार मान ली थी' :

विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरंगं
गोरोचना - पत्रविभक्तमस्याः।
सा चक्रवाकांकित - सैकतायाः
स्त्रिस्त्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ (७।१५)

यहाँ देखते हैं कि गोरोचना के पत्रांकन से युक्त गौरी के शुक्ल अगुरुमार्जित अंगों और चक्रवाकयुक्त गंगा के श्वेत सैकत में भी कवि ने कुछ पार्थक्य सूचित किया है—'अतीत्य तस्थौ'।

कालिदास की उपमा का चमत्कारित्व इस आनुपातिक सम्बन्ध के निपुण संस्थापन में है। रूप के सादृश्य द्वारा गुण-कर्म के इस आनुपातिक सम्बन्ध के निपुण संस्थापन द्वारा वक्तव्य विषय मानो मधुर से मधुरतर, गम्भीर से गम्भीरतर हो उठता है। वस्तु के साथ वस्तु के, या घटना के साथ घटना के सम्बन्ध में बहुत बार ऐसी एक चारुता रहती है कि उसको इसी प्रकार के अनेक-विध आनुपातिक सम्बन्धों में ढाले बिना हम लोग अच्छी तरह समझ नहीं पाते। उमा जब महादेव के द्वारा प्रत्याख्यात होने पर, मर्माहत हो घर लौटी जा रही थीं, तब पिता हिमालय ने आकर पुत्री को छाती से लगा लिया :

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्र-संरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत् पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद् वेगदीर्घीकृतांगः ॥ (३।७६)

'हिमालय ने हठात् आकर दोनों भुजाएँ फैलाकर रुद्र-कोपानल के भय से निमीलितनयना अनुकम्पायोग्या कन्या को उठा लिया; एवं, जिस तरह सुरगज दन्तलग्न नलिनी को लेकर चलता है, उसी तरह दीर्घ पद-विक्षेप करते हुए देह विस्तृत कर प्रस्थान किया।' नगाधिराज हिमालय के दोनों हाथों में उमा मानो सुरगज के दाँतों में लिपटी कमलिनी हो ! इस आनुपातिक सम्बन्ध में सुमधुर कमनीयता है। कर्कश-देह, धूसर-वर्ण विराट् हाथी के दाँतों में जैसे—छोटी-सी कोमल कमलिनी शोभा पाती है, हिमालय के धूसर ऊबड़-खाबड़ विराट् वक्ष में कोमलांगी तन्वी उमा वैसी ही सुशोभित हो रही थीं। केवल यही नहीं—बलवान् विराट् साथी की जिस सूँड़ के आघात से बड़े-बड़े वृक्ष भी क्षण-भर में टूट जाते हैं, समस्त वन्य पशु जिसके भय से भीत-त्रस्त रहते हैं, उसी भीषण, बलवान् हाथी की धूसर, कर्कश देह के भीतर ऐसा कोमल स्नेह छिपा है, जिस स्नेह के वशवर्ती हो वह अतिशय कोमल कमलिनी को इतने यत्न एवं प्रेम से अपनी सूँड़ से उठाता है कि जिससे एक कोमल पंखुड़ी में भी जरा-सा आघात न लगे, विराट् हिमालय के वक्ष में उमा भी ठीक उसी तरह है। जो विराट् हिमालय क्षण-भर में कितने ही जनपदों को निश्चिह्न कर दे सकता है—दावाग्नि से कितनी ही वनस्पति, कितने ही जीव-जन्तु ध्वंस कर दे सकता है—भीषण जल-प्लावन कर सकता है, कितने नद-नदियों का प्रवाह बन्द कर दे सकता है, उसकी छाती में पितृ-स्नेह की करुणा कितनी मधुर है !

'रघुवंश' में देख पाते हैं—स्वयंवर-सभा में प्रतिहारिणी सुनन्दा राजकन्या इन्दुमती को एक राजा के बाद दूसरे राजा के पास ले जा रही है। कवि ने कहा है :

तां सैव वेत्र - ग्रहणे नियुक्ता
राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरंग - लेखा
पद्मान्तरं मानस-राजहंसीम् ॥ (६।२६)

'वेत्रधारिणी प्रतिहारिणी राजकन्या को एक राजा के निकट से दूसरे राजा के निकट ऐसे ले जा रही थी, जैसे समीरणोत्थित तरंगलेखा राजहंसी को एक

कमल से दूसरे कमल के पास ले जाती है।'—उपमा का विश्लेषण करने पर प्रथम सार्थकता यह ज्ञात होती है कि इसका आनुपातिक सम्बन्ध अत्यन्त सुष्ठु है।

प्रतिहारिणी द्वारा राजकन्या को एक राजा के बाद दूसरे राजा के निकट अग्रसर करना वैसा ही लगता है, जैसे समीरण के मृदु वेग से उत्थित तरंग के ईषत्-आन्दोलन द्वारा मानस-विहारिणी मराली को एक कमल से दूसरे कमल के निकट पहुँचा देना। फिर राजसुता इन्दुमती यहाँ मानस-राजहंसिका है! वह मानो राजन्यवर्ग के मानस के नवतम प्रणयाकांक्षा-रूपी जल में राजहंसी की तरह ही बंकिम भंगिमा से ईषत् लास्यपूर्वक विचरण कर रही है। आनन्द-लीला के जरा-से चांचल्य से ही वह इधर से उधर जा सकती है। प्रस्फुटित नवयौवन वाले एक-एक राजकुमार मानो एक-एक प्रस्फुटित पद्म हैं और प्रतिहारिणी भी यहाँ समीरणोत्थित तरंगलेखा ही है! वह सखीजनोचित आनन्द, कौतूहल और ईषत् लास्यपूर्वक चल रही है, इसीलिए समीरणोत्थित तरंगलेखा है। यह आनुपातिक सम्बन्ध, प्रत्येक वस्तु का यह गुण-कर्म एवं रूप का सादृश्य, इन सबके एकत्रीकरण से एक रमणीय रसध्वनि की सृष्टि होती है।

श्री रामचन्द्र जब सीता का पुनरुद्धार कर लंका से अयोध्या लौटे, तब समग्र अयोध्या नगरी आनन्दोत्सव से भर उठी। तब—

> प्रासाद - कालागुरु - धूमराजि-
> स्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
> वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन—
> मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ (१४।१२)

'उस अयोध्यापुरी के प्रासादों से उत्थित कृष्ण अगुरु की धूमराशि वायुवेग से भिन्न हो जाती थी; लगता था कि वन से प्रत्यावर्तन कर रघूत्तम राम ने मानो स्वयं अयोध्यासुन्दरी की काल-वेणी मुक्त कर दी है।' राजभोग्या राज-नगरी के साथ राजा का सम्बन्ध कान्तासम्मित होता है। रामचन्द्र के सुदीर्घ चौदह वर्षों के लिए बनवास ग्रहण करने पर इस सुदीर्घ विरह-काल में अयोध्यानगरी में कोई आनदोत्सव नहीं हुआ; भरत संन्यासी, शत्रुघ्न संन्यासी और समग्र अयोध्या नगरी भी मानो रामचन्द्र की प्रतीक्षा में धृतैकवेणी तपस्विनी! आज मानो रामचन्द्र ने लौटकर अपने हाथों से उस श्वेतक्षौमवसना धृतैकवेणी अयोध्या के अगुरु-सुरभित कालकेशदाम को मुक्त कर दिया है!

सीता के वनवासी शिशु पुत्रद्वय, कुश एवं लव, ने महर्षि वाल्मीकि के साथ राजसभा में आकर वीणा पर रामायण का गान आरम्भ किया ; कोमल-कण्ठ शिशुद्वय के संगीत के करुण माधुर्य से समस्त राजसभा सजल-नयन हो स्तब्ध रह गई। कवि की भाषा में :

> तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ ।
> हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ।। (१५।६६)

'सुमधुर बालकण्ठ से वह करुण मधुर संगीत सुनकर समाहित निस्पन्द विराट् सभा अश्रुमुखी हो गई, मानो वह शिशिर-स्निग्ध निर्वात प्रभात की निस्तब्ध वनस्थली हो !' संसद् के वे आँसू मानो संगीत-श्रवण द्वारा युगपद् असीम माधुर्य एवं करुणा से विगलित चित्त की निस्तब्ध भाषा हों, ऐसी ही एक अव्यक्त करुणा एवं माधुर्य की ही भाषा है प्रभात-वनस्थली के गात्र में स्वच्छ शीतल शिशिर-बिन्दु । समाहित निस्पन्द संसद् जैसे प्रभात की निर्वात वनस्थली है !

कालिदास की प्रायः प्रत्येक उपमा की विशेषता यही है कि उसके भीतर एक आश्चर्यजनक स्थिति-स्थापकता का गुण है। उसे दायें बायें, ऊपर-नीचे जितना भी खींचा जाये, वह उतना ही बढ़ती है, सहसा टूट नहीं जाती; और छोड़ देने पर फिर आकर संकुचित होती है एक चित्र के रूप में । उपमाओं में जैसे एक आपात-माधुर्य अर्थ का चमत्कारित्व है, वैसे ही इनमें अत्यधिक सम्भावना भी गर्भित है। उस गर्भित सम्भावना का अस्फुट आभास स्पष्ट अर्थ को और भी गम्भीरता, और भी रहस्य, प्रदान करता है । 'किंचित्परिलुप्तधैर्यं' महादेव की तुलना कालिदास ने जहाँ 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः' के साथ की है, वहाँ यह स्पष्ट हो उठा है कि महादेव के योग-समाहित चित्त में समुद्र-वक्ष का ईषत् चांचल्य है ; किन्तु समुद्र के साथ महादेव की इस तुलना के भीतर और भी बहुत-सी बातें गर्भित हैं। महादेव का चित्त ऐसा विराट् है कि समुद्र-वक्ष की तरह जैसे वह ईषत् उद्वेलित हो सकता है, वैसे समुद्र की तरह ही भीषण रौद्र मूर्ति भी धारण कर सकता है। महादेव के विक्षुब्ध चित्त के उस समुद्र-सम प्रचण्डाघात से भी क्षण-भर में समग्र सृष्टि त्रस्त हो उठ सकती है। इस गर्भित सम्भावना की पृष्ठभूमि में ही महादेव के चित्त की ईषत् उद्वेलता यहाँ इतनी सार्थक हो उठी है। कालिदास ने जहाँ आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा को 'प्रभात-कल्पा शशिनेव शर्वरी' कहा है, वहाँ वे केवल प्रभात-कल्पा शर्वरी की पाण्डुता के साथ गर्भिणी सुदक्षिणा की पाण्डुता की ही तुलना करते हैं, ऐसा

नहीं है। उस प्रभात-कल्पा शर्वरी के भीतर विश्व-उज्ज्वलकारी प्रभात-सूर्य का आसन्न उदय जैसे गर्भित रहकर प्रभात-कल्पा शर्वरी की पाण्डुता को ही एक विराट् महिमा प्रदान करता है। सुदक्षिणा की पाण्डुरता के भीतर भी छिपी है उस आसन्न-मातृत्व की महिमा। शकुन्तला को जहाँ अनाघ्रात पुष्प, अच्छिन्न किसलय, अनाविद्ध रत्न, अनास्वादित रस-मधु कहा गया है, वहाँ शकुन्तला का अस्पृष्ट, अपरिभुक्त कुमारीत्व ही सुन्दरतापूर्वक प्रकट हुआ है, ऐसा नहीं है—उसके पीछे जाग उठा है कुमारी शकुन्तला का अनवद्य भोग-योग्यत्व; उस समय भी वह विश्व की कामना की वस्तु है। कालिदास की प्रायः प्रत्येक उपमा के भीतर इसी प्रकार का स्थिति-स्थापकता गुण निहित है। अत्यन्त छोटी-छोटी उपमाओं के भीतर भी यह जो एक प्रच्छन्न महिमा है, यह जो कुछ कहने के भीतर कुछ और अनकही बात है, पाठक के चित्त को सहज ही आकृष्ट कर लेती है।

कालिदास की उपमाओं में औचित्य

कालिदास की उपमाओं के इस स्थितिस्थापकता-गुण के विवेचन-प्रसंग में ही कालिदास की उपमाओं का औचित्य भी लक्षणीय है। देश-काल-पात्र के समस्त अवस्थानों के अनुरूप श्लोक के शब्द-शब्द में अर्थ भर देने में कालिदास अद्वितीय हैं। हमने कालिदास के जिन श्लोकों पर ऊपर विचार किया है, उनमें से प्रायः प्रत्येक में देश-काल-पात्र का निपुण समावेश देखा जा सकता है।

संस्कृत आलंकारिकों में एक दल औचित्यवादियों का भी है। उनका कथन है कि वाक्य का औचित्य, अर्थात् देश-काल-पात्र प्रभृति सभी दृष्टियों से विचार कर वाक्य का जो सुष्ठुतम प्रयोग है, वही है काव्य का काव्यत्व। वाक्य के इस औचित्य के भीतर ही वे जो एक अनन्यसाधारण रमणीयता पाते हैं, वही है काव्य की प्राण-वस्तु। यह मत पूर्णतः ग्रहणीय न होने पर भी इसमें विचार करने योग्य यथेष्ट तत्त्व हैं। सब दृष्टियों से विचार करने पर जो उचित बोध होता है, मन में उस औचित्य-बोध एवं संगति या सुषमा-बोध के साथ सौन्दर्य-बोध का एक निगूढ़ संयोग है; क्योंकि सौन्दर्य-बोध के मूल में भी संगति या सुषमा ही रहती है। इस औचित्यवाद के अनुसार विचार करने पर कालिदास की उपमाएँ उनके काव्य में कितनी प्रधान हो उठी हैं, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

'शकुन्तला' नाटक में देख पाते हैं, महर्षि कण्व आश्रम लौटकर आकाशवाणी द्वारा दुष्यन्त एवं शकुन्तला की समस्त प्रेम-कथा जान गए। प्रियम्वदा के मुँह से हमें पता चलता है कि महर्षि कण्व ने शकुन्तला को अपनी गोद में बैठाकर कहा—'धूमाउलिदविट्ठिणो वि जजमाणस्स पावए आहुइ पडिदा'—अर्थात् 'यज्ञीय धूम से आकुलितदृष्टि याज्ञिक की भी घृताहुति अग्नि में ही पड़ी है।' आश्रम-पालिता आश्रमकन्या होने पर भी शकुन्तला ने अपने योग्य स्वामी ही प्राप्त किया है। यहाँ कालिदास नवमालिका एवं सहकार के मिलन-दृश्य को तो नहीं लाये—आश्रमपालिता शकुन्तला यहाँ धूमाकुलित-दृष्टि याज्ञिक की घृताहुति है और राजा दुष्यन्त हैं यज्ञीय अग्नि। यही कालिदास का निपुण

मात्रा-ज्ञान है—यही हैं उनका देशकाल-पात्र का अटूट विचार। यहाँ वक्ता हैं महर्षि कण्व, स्थान है तपोवन; इसीलिए यहाँ शकुन्तला एवं दुष्यन्त यज्ञ की हवि एवं अग्नि से भिन्न और क्या हो सकते थे? देश-काल-पात्र की इस निबिड़ संगति द्वारा ही वक्तव्य इतना मधुर हो उठता है।

'देवतात्मा' नगाधिराज हिमालय की भी उमा के सम्बन्ध में ऐसी ही उक्ति देख पाते हैं:

ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूत-
महंन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्॥ (१।५१)

'मन्त्रपूत हवि कभी भी अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी तेजोमय वस्तु में निक्षिप्त नहीं हो सकती।' उमा भी उसी तरह महादेव के अतिरिक्त अन्य किसी के निकट अर्पिता नहीं हो सकती। महर्षि कण्व जहाँ पिता हैं, वहाँ उनकी उक्ति के भीतर से पुनः पितृत्व झरा पड़ रहा है। शकुन्तला को आर्या गौतमी एवं ऋषिगण के साथ पतिगृह भेजते समय व्यथित कण्व कह उठे—'स्नेह-प्रवृत्ति ठीक ऐसी ही होती है; फिर भी आज शकुन्तला को भेजकर मैंने जैसे पुनः स्वास्थ्यलाभ किया है; क्योंकि कुमारी कन्या जैसे पिता के निकट दूसरे का रखा हुआ धन है; जब तक उसे प्रत्यर्पित नहीं किया जाये, तब तक मानो स्वस्ति नहीं मिलती; उसी परन्यस्त धन शकुन्तला को आज पतिगृह भेज मैं भी निश्चिन्त एवं निरुद्वेग हुआ।'

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥

गौतमी एवं शार्ङ्गरव प्रभृति ऋषियों के साथ शकुन्तला जब दुष्यन्त की राजसभा में उपस्थित हुई, तब शार्ङ्गरव ने राजा दुष्यन्त से कहा था:

त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्त्तिमती च सत्क्रिया।

'तुम जैसे श्रद्धार्ह और लोक-समाज में अग्रगण्य हो, हमारी शकुन्तला भी ठीक वैसी ही मूर्त्तिमती सत्क्रिया है।' शार्ङ्गरव ने यह बात नहीं कही—'हे राजन्! तुम जैसे सुचतुर मधुकर हो, हमारी शकुन्तला भी वैसे ही मधुपूर्ण अनाघ्रात पुष्प है।' यौवनोन्मत्त राजा दुष्यन्त के निकट जो शकुन्तला एक दिन थी अनाघ्रात पुष्प, नख द्वारा अच्छिन्न किसलय, अनाविद्ध रत्न, अना-

स्वादित रस-मधु ; शार्ङ्गरव की भाषा में वह शकुन्तला ही मूर्तिमती सत्क्रिया है । नारी का पार्थिव रूप अंकित करते समय कालिदास ने मर्त्यलोक के उपकरणों को कितना ही टटोला है ; किन्तु महर्षि वाल्मीकि के साथ सीता जिस दिन शिशु पुत्र-द्वय सहित राम के सम्मुख उपस्थित हुई हैं, उस दिन सीता नवोदित सूर्य के सम्मुख ऋषिकण्ठ की गायत्री हैं ! राजा रघु जिस दिन विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व-दान कर नंगे बदन ही रह गए थे, उस दिन वनवासी ऋषियों ने कहा था :

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्
आभासि तीर्थप्रतिपादितर्धिः ।
आरण्यकोपात्त - फल - प्रसूतिः
स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ (५।१५)

'महाराज समस्त धनराशि उपयुक्त पात्रों को अर्पित कर आप केवल देहावशिष्ट होकर अवस्थान कर रहे हैं; आरण्यक ऋषिगण द्वारा समस्त शस्य ले जाने पर नीवार जैसे स्तम्ब-मात्र रह जाता है, आप भी आज तद्रूप हैं ।' धन-सम्पद् बाँट देने के बाद राजा रघु आज मुनियों के निकट शस्य-हीन स्तम्ब में अवशिष्ट नीवार की तरह हैं ! वन के ऋषि और कहाँ से उपमा पायेंगे ? सम्पद्हीन राजा की प्रतिमूर्त्ति वे देख पाते हैं, शस्य-हीन स्तम्बाव-शिष्ट नीवार में !

कालिदास की उपमाओं में वैचित्र्य और विराट्तत्त्व

कालिदास के काव्य में प्राय: प्रत्येक पंक्ति में उपमा पायी जाती है। उनमें से कुछ उपमाएँ शायद अन्य कवियों के लिए भी सम्भव होतीं, किन्तु अनेक उपमाएँ ऐसी हैं जिन पर कालिदास के नाम की एकदम सील-मोहर की हुई है। केवल स्थिति-स्थापकता-गुण में ही नहीं—कालिदास की उपमाओं का वैशिष्ट्य है उनकी अनुभूति की सूक्ष्मता, गंभीरता एवं विराटत्व में; उनकी कल्पना की सूक्ष्मता, विपुलता एवं वैचित्र्य में। एक ओर देख पाते हैं समस्त विश्व-सृष्टि अपने समस्त चन्द्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, तरु-लता, फल-पुष्प, पशु-पक्षी आदि लिये एवं मनुष्य अपने रूप की सकल सूक्ष्म सुषमा, अपने जीवन का समस्त सुख-दुःख, अच्छाई-बुराई, हास्य-क्रन्दन, मिलन-विरह समस्त वैचित्र्य लिये कवि के मन के भीतर निविड़ रूप से मानो बिल्कुल यथार्थ रूप से आसन जमाये बैठे हैं; और दूसरी ओर देख पाते हैं कि कल्पना-शक्ति की सबलता द्वारा क्षण-भर में ही पाठक के निकट उस मानसिक जगत् को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देने की असीम शक्ति भी कवि में है। इस आदान-प्रदान की निजस्वता के माध्यम से कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य खिल उठा है। कवि की दर्शन-शक्ति एवं श्रवण-शक्ति में एक विशिष्ट स्वाधीन भंगिमा थी; उसी स्वाधीन चिन्ताधारा को कवि ने स्वाधीन कल्पना के निःसीम आकाश में मुक्त कर दिया है—स्वच्छन्द है उसकी गति, विपुल है उसकी परिधि।

पहले ही कहा जा चुका है कि कवि को अपना वक्तव्य बहुत बढ़ाकर कहना पड़ता है; क्योंकि जो अनुभूति कवि के लिए प्रत्यक्ष है, पाठक के लिए वह परोक्ष है। इसीलिए पाठक के निकट उसे बहुत बढ़ाकर उपस्थित नहीं करने पर पाठक रस की समग्रता की उपलब्धि नहीं कर सकता। साहित्य में हमारे मन की सूक्ष्म रसानुभूतियों को ही दूसरे के निकट बढ़ाकर रखना होता है, ऐसा नहीं है—प्राकृतिक स्थूल वस्तुओं को भी बढ़ा-चढ़ाकर दूसरे के निकट उसके स्वरूप का परिचय देना पड़ता है।

अपने मन के भावों को बाहर कितना बढ़ाकर कहने से पाठक कवि-मानस का सन्धान पा सकता है, कवि की अनुभूति का सबल, सूक्ष्म सौकुमार्य एवं वैचित्र्य, उसका गाम्भीर्य एवं विराटत्व दूसरे के निकट स्पष्ट हो सकता है, यह बात कालिदास अत्यन्त निपुणतापूर्वक जानते थे। हमने पहले ही देखा है कि योग-मग्न महादेव के ईषत् चित्त-चांचल्य को कवि ने किस तरह भाषा प्रदान की है। रघुराज की प्रसविनी रानी सुदक्षिणा की मूर्ति को कवि ने किस तरह प्रभात-कल्पा शर्वरी का रूप दिया है। इस गर्भिणी सुदक्षिणा के सम्बन्ध में ही कहा गया है :

निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीन - पावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ (३।९)

'अन्तःसत्त्वा महिषी को राजा दिलीप सागराम्बरा रत्नगर्भा वसुन्धरा की तरह, अग्निगर्भा शमी की तरह एवं अन्तःसलिला सरस्वती नदी की तरह समझते थे।'

विलाप करती हुई शकुन्तला जब आश्रम छोड़कर पतिगृह-यात्रा कर रही थी, तब महर्षि कण्व ने भी कहा था :

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥

'हे वत्से ! पूर्व दिशा जिस तरह सूर्य को प्रसव करती है, उसी तरह शीघ्र ही एक पुत्र प्रसव कर तुम मेरे विरह-जनित शोक को भूल जाओगी।' शकुन्तला शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्रसव करेगी, जिसके नाम पर यह विशाल साम्राज्य भारतवर्ष के रूप में विख्यात होगा। ऐसे पुत्र के प्रसव के लिए ही 'प्राचीवार्कं प्रसूय' कहा जा सकता है ! शकुन्तला-नाटक के चतुर्थ अंक में भी हम शकुन्तला के विषय में महर्षि कण्व को आकाशवाणी सुनते देख पाते हैं :

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ।

'हे ब्राह्मण ! तुम अपनी पुत्री को अग्निगर्भा शमी की तरह समझो !' गर्भवती शकुन्तला आज 'अग्निगर्भा शमी' है !

मेघदूत में देख पाते हैं, यक्ष मेघ को कैलासपर्वत का परिचय दे रहा है :

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।

शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥

(पू० ५८)

'हे मेघ, ऊर्ध्व दिशा को गमन कर रावण की भुजाओं द्वारा विभक्तसन्धि एवं देववनिताओं के दर्पण-स्वरूप कैलास पर्वत के अतिथि होना; जो कैलास कुमुद की तरह शुभ्रवर्ण उच्च शृंगसमूहों के द्वारा आकाश व्याप्त कर प्रत्यह महादेव के पुञ्जीभूत अट्टहास की तरह विराजित रहता है। शुभ्रतुषार-किरीटी शुभ्र रवि-किरणों से प्रदीप्त अभ्रभेदी कैलाश के शिखर मानो महाकाश के अधीश्वर देवाधिदेव त्र्यम्बक के प्रतिदिन के पुञ्जीभूत अट्टहास हैं !

'मेघदूत' में अन्यत्र देखते हैं। यक्ष मेघ को कहता है—सन्ध्यावेला में महाकाल महादेव अपने ताण्डव नृत्य के लिए उत्सुक होते हैं। इस ताण्डव नृत्य के आरम्भ में वे अपनी विशाल दस भुजाएँ रक्तार्द्र गजचर्म के लिए ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रसारित करते हैं। यह रक्तार्द्र गजचर्म स्वभावतः भवानी को अच्छा नहीं लगता, भयोद्रेक करता है, उस समय 'हे मेघ, तुम यदि महादेव की ऊर्ध्वप्रसारित दीर्घ वनस्पति-रूप भुजाओं के ठीक ऊपर अभिनव जवापुष्प की तरह रक्तवर्ण धारण कर मण्डलाकार हो अवस्थान करो, तो महादेव भी और रक्ताक्त गजचर्म के लिए हस्त-प्रसारण नहीं करेंगे; भवानी भी शान्त भाव से निश्चल नेत्रों से तुम्हारा भक्ति-भाव देखती रहेंगी' —

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजवापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्र - नागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेग-स्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ (पू० ३९)

यहाँ महाकाल की ऊर्ध्वप्रसारित वनतरु रूप कर-राजि एवं उससे संलग्न सान्ध्यसूर्य की रक्तछवि प्रतिफलित कर मेघ के रक्ताक्त गजाजिन रूप को सचमुच अपूर्व चमत्कृति प्राप्त हुई है। 'पूर्वमेघ' के और एक श्लोक में देखते हैं :

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृंगे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेयाम् ॥ (पू० ५२)

हिमालय के जिस प्रदेश से गंगा की उत्पत्ति हुई है, वह धवल तुषारावृत

पर्वतीय क्षेत्र ही है त्रिनयन महादेव का शुभ्र वृषभ; उस प्रदेश में हिमालय का जो शिखर है, वही है महादेव के उस तुषारधवल वृषभ का शृंग; और उस शिखर में निषण्ण जो ईषत्-कृष्ण मेघ है, वही है मानो उस वृषभ के शृंगोत्खात से उत्तोलित कर्दम। महादेव के विराटत्व के साथ उनके वृषभ—विराट् वृषभ के शृंग एवं उस शृंग के कर्दम का विराटत्व, सब मिलकर यहाँ एक महिमा-व्याप्ति प्राप्त करते हैं। अन्यत्र एक स्थल पर यक्ष ने मेघ से उन्नत-प्रवनत होकर अभ्यन्तरस्थ जलराशि को निस्तब्ध कर पाषाणवत् दृढ़ीभूत हो हरगौरी के मणिमय तट पर आरोहण के निमित्त सोपान का कार्य करने का अनुरोध किया है :

> **भंगीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः**
> **सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ (६०)**

'ऋतुसंहार' काव्य में शरद्-वर्णना के प्रसंग में कवि कहता है :

> **व्योमं क्वचिद्रजत-शंख-मृणाल-गौरै-**
> **स्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।**
> **संलक्ष्यते पवन-वेग-चलैः पयोदै-**
> **राजेव चामर - वरैरुपवीज्यमानः ॥ (४)**

'शरद् के वारिहीन रजत-शंख-मृणाल की तरह शुभ्र लघुमेघसमूह पवन-वेग से शत-सहस्र खण्डों में विभक्त होकर इतस्ततः चालित हो रहे हैं। उन्हें देखकर लगता है कि व्योमरूपी महाराज मानो शुभ्र मेघों के असंख्य चामरों से उपवीज्यमान हैं !'

कालिदास की इस तरह की उपमाओं के भीतर केवल वर्णित विषय ही अपने समस्त विराटत्व एवं महत्त्व को लेकर परिस्फुट हो उठता है, ऐसा नहीं है—यह पाठक के मन को भी एक विराट् मुक्ति देता है—उसकी चिर-परिचित पारिपार्श्विकता की सीमाबद्धता से, और काव्य की विषय-वस्तु से भी। काव्य की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि इस प्रकार की उपमाएँ मानो उनके काव्य में वातायन-स्वरूप हैं। इनके द्वारा वर्णित विषय या घटना के मध्य एक छिद्र (फाँक) से मानो बाहर का सीमाहीन आकाश, सागर, पर्वत, वायु, प्रकाश आकर झाँक जाते हैं—मन को मुक्ति मिलती है, वह नवीन सरसता से भर उठता है। अथच, कल्पना की इस मुक्ति से काव्य के मूल प्रसंग का कोई योग नहीं है, ऐसा भी नहीं; उपमेय के साथ निगूढ़ योग-सूत्र में इन उपमानों का भी काव्य के मूल सुर के साथ एक अखण्ड योग है। इस

अखण्ड योग के भीतर से ही वे चित्त को मुक्ति प्रदान करते हैं—यही उनका विशेषत्व है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में देख पाते हैं :

उदय - गूढ - शशांक - मरीचिभि-
स्तमसि दूरमितः प्रतिसारिते।
अलक - संयमनादिव लोचने
हरति मे हरिवाहन - दिङ्मुखम् ॥

'चन्द्र अभी तक उदित नहीं हुआ है—वह अभी तक 'उदय-गूढ' है; उस उदय-गूढ चन्द्र के उद्भास से अन्धकार-राशि दूर प्रतिसारित होने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि मुख के ऊपर से अलक-भार संयमन करने पर दिग्वधू का मुख आँखों के सम्मुख प्रतिभासित हो गया।' चन्द्र का उदयगूढ उद्भास ही मानो दिग्वधू की सौम्योज्ज्वल मुखकान्ति है—अन्धकार-राशि ही मानो उसका अलक-भार है।' 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में ही अन्यत्र राजा कहते हैं :

विद्युल्लेखा-कनक-रुचिरं-श्रीवितानं ममाभ्रो'—

'विद्युल्लेखा के कनक-सूत्र से मानो माथे के ऊपर घने बादलों का चँदोवा ताना गया है।'

'रघुवंश' में देख पाते हैं—राजा दिलीप ने पुत्र-लाभ की कामना से रानी सुदक्षिणा के साथ रथारोहण कर वशिष्ठ के तपोवन की ओर प्रस्थान किया। ऊपर नीले आकाश के गात्र में शुभ्र बलाका-श्रेणी ईषत् उन्नमित एवं अवनमित होकर उड़ रही थी—

श्रेणीबन्धाद् वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरण-स्रजम्।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ (१।४१)

'अपने कल-निनाद से आकाश को गुंजाते हुए वह शुभ्र सारसमाला स्तम्भरहित तोरणमाला की तरह उड़ रही थी। राजा और रानी दोनों ही झाँककर उसे देख रहे थे।' उसके बाद पुनः देख पाते हैं—'सन्ध्या के घिर आने पर वशिष्ठ ऋषि की होमधेनु नन्दिनी जङ्गल से पुनः आश्रम में लौट आयी है; उस पल्लव-स्निग्धा पाटलवर्णा नन्दिनी के ललाट पर ईषत्-कुञ्चित श्वेत रोमराजि का अंकन मानो पाटलवर्णा सन्ध्या के आकाश-भाल पर नवोदित चन्द्र का तिलक हो'—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लव - स्निग्ध - पाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमांकं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ (१।८३)

यहाँ एवं इसके परवर्ती कई वर्णनों में हम यद्यपि वशिष्ठ की होमधेनु

नन्दिनी के सम्बन्ध में कई उपमाएँ देख पाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि यह नन्दिनी एक ओर जैसे वशिष्ठ की होमधेनु है, वैसे ही दूसरी ओर राजा दिलीप की सेव्या है; इसीलिए कालिदास को नाना प्रकार से इस होमधेनु नन्दिनी को महिमान्वित चित्रित करना पड़ा है। वशिष्ठ ने राजा दिलीप को 'फल-मूल का आहार करते हुए नन्दिनी को अपनी सेवा से उसी तरह तुष्ट करने की चेष्टा करने के लिए कहा, जैसी चेष्टा कोई शुचिव्रत ज्ञानसाधक अभ्यास के द्वारा विद्या को प्रसन्न करने के लिए करता है'—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि॥ (१।८८)

महाराज दिलीप ने पुत्रलाभ के लिए आश्रमधेनु नन्दिनी की परिचर्या का व्रत ग्रहण किया। उस होमधेनु नन्दिनी को आगे रखकर रक्षक-रूप में दिलीप जब उसके पीछे-पीछे चलते थे, तब भी कवि ने राजा के राजैश्वर्य या महत्त्व को क्षुण्ण नहीं होने दिया—'राजा मानो गोरूपधारिणी ससागरा पृथ्वी के रक्षक होकर ही वन में विचरण करते थे'—

पयोधरीभूत - चतुःसमुद्रां
जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥ (२।३)

चारों समुद्र मानो नन्दिनी के चारों थनों के रूप में सुशोभित हो रहे थे और उस पयोधरीभूत चतुःसमुद्रा गोरूपधारिणी पृथ्वी का ही पालन दिलीप उस पार्वत्य अरण्य में कर रहे थे!

'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में हम देख पाते हैं सन्ध्या-समय नन्दिनी वशिष्ठ के आश्रम में लौट रही है—'दिग्-दिगन्त को अपने संचार से पवित्र कर दिन के बीत जाने पर पल्लवरागताम्रा सूर्य की प्रभा एवं मुनि की धेनु, दोनों ही अपने-अपने निलय को लौट चलीं, पल्लवरागताम्रा सूर्य-प्रभा पश्चिम निलय की ओर, एवं पल्लवरागताम्रा होमधेनु मुनि के आश्रम की ओर!'—

संचार - पूतानि दिगन्तराणि
कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लव - रागताम्रा
प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः॥ (२।१५)

नन्दिनी को दिन-भर वन में चराकर सन्ध्या-समय राजा दिलीप आश्रम लौटे—'रानी सुदक्षिणा व्याकुल आग्रह से अग्रवर्तिनी हो उनकी अभ्यर्थना कर धेनु के आगे-आगे चलीं, पीछे महाराज दिलीप, बीच में गामी नन्दिनी। तब

वह पाटलवर्णा गाभी नन्दिनी ऐसी लग रही थी, मानो दिन एवं रजनी की मध्यवर्त्तिनी पाटलवर्णा मूर्त्तिमती सन्ध्या हो !'—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन
प्रत्युद्गता पार्थिव-धर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनु-
र्दिनक्षपा - मध्यगतेव सन्ध्या ॥ (२।२०)

उपमा द्वारा उपमान के संस्पर्श से उपमेय को महिमान्वित बनाने की चेष्टा कालिदास के बहुत-से श्लोकों में हम देख सकते हैं। अज एवं इन्दुमती विवाह के समय जब यज्ञीय होमाग्नि की प्रदक्षिणा कर रहे थे, तब—

प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानो-
रुदर्चिषस् - तन्मिथुनं चकाशे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमान-
मन्योन्य - संसक्त-महस्त्रियामम् ॥ (७।२४)

'प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय उक्त दम्पती मानो मेरु के निकट अन्योन्यसंसक्त दिनयामिनी की तरह सुशोभित हो रहे थे।' दिन एवं रजनी मानो आँचल में गाँठ बाँधकर प्रदक्षिणा कर रहे हों और बीच में यज्ञाग्निरूप सुमेरु स्थित हो। सुमेरु को यज्ञाग्नि कहने में भी यथेष्ट सार्थकता है। दिन एवं रात्रि का मिलन होता है, प्रभात एवं सन्ध्या-समय। दोनों समय ही सूर्य की आरक्तिम किरणें पर्वत-गात्र पर प्रतिफलित होती हैं; पर्वत-शिखर उस समय ऐसा लगता है मानो अभ्रभेदी ज्वलन्त अग्निकुण्ड हो। वह अग्नि-कुण्ड ही मानो दिन-रजनी के मिलन-क्षण की साक्षीभूत होमाग्नि हो। ठीक यही श्लोक 'कुमारसम्भव' में हर-पार्वती द्वारा यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करते समय फिर देख पाते हैं।

अनेक स्थानों पर इस महिमा की व्यंजना कालिदास अत्यन्त अल्प आयास एवं अल्प शब्दों में कर पाये हैं। हिमालय के वर्णन-प्रसंग में 'कुमारसम्भव' में कवि ने मुनियों के मुख से कहलवाया है :

मनसः शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नतिः। (६।६६)

'तुम्हारे मन और शिखरों, दोनों की समुन्नति एक ही समान है।' मुनियों ने और भी कहा है—'तुम्हारी नदियाँ (गंगादि) एवं कीर्ति, दोनों ही लोक को पवित्र करती हैं'—

पुनन्ति लोकान् पुण्यत्वात् कीर्तयः सरितश्च ते। (६।६६)

उपमा-प्रयोग के द्वारा कालिदास अनेक समय ऐसी चित्तविस्फाररूपिणी चमत्कृति की सृष्टि कर देते हैं कि श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न वहाँ एकदम अवान्तर हो जाता है। इस तरह की अनेक उपमाओं पर हमने पहले ही विचार किया है (पूर्वमेघ ४१/६३)। 'कुमारसम्भव' में अकालवसन्त में श्याम वन-स्थली में सहसा फूट पड़ने वाले किंशुकों का वर्णन करते हुए कहा है :

बालेन्दु - वक्राण्यविकाशभावा-
द्बभुः पलाशान्यति - लोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नख - क्षतानीव वनस्थलीनाम् ।। (३।२९)

'पलाश के पुष्प अभी भी पूर्णतः नहीं खिल पाये हैं—वे बालेन्दुवक्र एवं अति रक्तवर्ण हैं; मानो वसन्तसंगता वनस्थली के गात्र पर सद्यकृत नखक्षत हैं !'

'श्रृंगार-तिलक'* में देख पाते हैं, एक नारी सखियों से कह रही है—'बहुत दिनों के प्रवास के बाद प्रियतम लौटकर आये— प्रवास की कहानी सुनते-सुनते, बातों-बातों में ही आधी रात बीत गई; तत्पश्चात् जब मैंने लीला-कलह-कोप का सूत्रपात किया, तभी पूर्व दिशा सौत की तरह लाल हो उठी'—

सपत्नीव प्राची दिगियमभवत्तावदरुणा ।

प्रिय-मिलन के सुख से रक्तारुण प्रभात किस तरह नारी को वंचित करता है, यह इस एक ही उत्प्रेक्षा से स्पष्टतम रूप में प्रकट हो गया है—'प्राची सौत की तरह लाल हो जाती है !'

---

* 'श्रृंगार-तिलक' प्रभृति काव्य कालिदास द्वारा रचित नहीं हैं, यही पंडितों का मत है; किन्तु यह उत्प्रेक्षा कालिदास की उत्प्रेक्षाओं की जाति की ही है, इसीलिए यहाँ इसका विवेचन किया गया है।

कालिदास की उपमाओं में तुलनात्मक चित्र

कालिदास की कुछ उपमाओं में ऐसा लगता है कि मानो कवि ने बगल-बगल में दो चित्र अंकित किये हैं—ये दोनों चित्र मानो एक साथ ही हमारे चित्त को प्रभावित कर एक ही फल उत्पन्न करते हैं। जैसे 'रघुवंश' में देखते हैं—जब राजा दिलीप द्वारा सेविता होमधेनु नन्दिनी को सहसा माया-सिंह ने दबोच लिया, तब :

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं
धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ (२।२९)

"राजा ने देखा कि पाटलवर्णा धेनु पर बैठा हुआ सिंह ऐसा लग रहा है जैसे पर्वत की धातुमयी अधित्यका में एक प्रफुल्ल लोध्रद्रुम हो !'

'रघुवंश में' रघु की दिग्विजय के वर्णन में कहा गया है ।

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्द्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ (४।३७)

बंगीय राजाओं को रघु ने पहले उन्मूलित किया एवं फिर अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित किया—'तब वे रघु के पाद-पद्म में इस प्रकार समधिक प्रणत हुए, जैसे धान के चारे फल-भार से पृथ्वी तक झुककर शस्यदान करते हैं—यदि उन्हें एक बार भूमि से उखाड़ कर पुनः भूमि में रोपित किया जाये।'

इन्दुमती की स्वयंवर-सभा में युवराज अज प्रस्तर-सोपान का अतिक्रमण कर ऊपर चढ़ रहे हैं—'सोपान पार कर युवराज मंच पर आरोहण कर रहे हैं—मानो चट्टानों पर पैर रखता हुआ सिंह-शावक पर्वत-शिखर पर आरोहण कर रहा हो'—

वैदर्भ - निर्दिष्टमसौ कुमारः
क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिला - विभंगै र्मृगराजशाव-
स्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥ (६।३)

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं—'रावण द्वारा पीड़ित देवगण के विष्णु की शरण ग्रहण करने पर विष्णु रावण-वध का आश्वासन देकर अन्तर्धान हो गए, जैसे अनावृष्टि के कारण शुष्क शस्य को जलाभिषेक द्वारा सरस कर मेघ अन्तर्धान हो जाता है।' विष्णु मेघ हैं, रावण अनावृष्टि, और निपीड़ित देवगण शुष्क शस्य—

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्शस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ (१०।४८)

कुमारसम्भव में देख पाते हैं—'आगे-आगे चल रही हैं कनकप्रभा मातृकाएँ, उनके पीछे चल रही है सितकपालाभरणा काली—मानो, आगे चमक रही है स्वर्ण में विद्युत् और पीछे है नील मेघराजि, तथा उसके वक्ष में श्वेत बलाका-पंक्ति'—

तासाञ्च पश्चात् कनकप्रभाणां
काली कपालाभरणा चकाशे ।
बलाकिनी नील - पयोदराजी
दूरं पुरःक्षिप्त - शतह्रदेव ॥ (७।३९)*

'रघुवंश' में देख पाते हैं कि 'राम को परशुराम के कोप से मुक्त देखकर राजा दशरथ को वैसा ही परितोष-लाभ हुआ—जैसे दावानल से बचे हुए वृक्ष को शीतल वृष्टिपात से होता है'—

तस्याभवत् क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलंघित - तरोरिव वृष्टिपातः ॥ (११।९२)

फिर देख पाते हैं कि 'समस्त विषय-स्नेह के भोग के बाद अन्तिम दशा-प्राप्त राजा दशरथ ऐसे लगते हैं, जैसे उषाकाल में समस्त स्नेह या तैल-भोग करने के बाद आसन्न-निर्वाण प्रदीप-शिखा !'—

निर्विष्टविषयस्नेहः सः दशान्तमुपेयिवान् ।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ (१२।१)

इस तरह की उपमाओं में सर्वत्र ही यह लक्ष्य किया जा सकता है कि दोनों चित्र एकदम समजातीय हैं, एवं अगल-बगल में सजा दिये गए हैं। उपमान का चित्र सर्वत्र ही उपमेय के चित्र का सर्वांगीण परिपोषक है।

---

* तुलना कीजिये—

ताडका चलकपालकुण्डला
कालिकेव निबिडा बलाकिनी ॥—रघुवंश (११।१५)

कालिदास की उपमाओं में चेतन-अचेतन का अद्वयत्व

उपमा-प्रभृति अर्थालंकारों का एक प्रधान तत्त्व है अचेतन जड़ प्रकृति की चेतन के अनुरूप कल्पना करना। इसे हम मानवीयकरण या personification कह सकते हैं। संस्कृत के समासोक्ति अलंकार के मूल्य में भी जड़ प्रकृति का यह मानवीयकरण ही है। साहित्य का अवलम्बन प्रधानतः मानव-जीवन है; बहिर्जगत् में इस जीवन का साधर्म्य खोजने पर बहिःप्रकृति के प्रवाह को हमारे जीवन के इस प्रवाह से अभिन्न कर देखना पड़ता है। मानवीयकरण के मूल में भी इस जीवन-धारा और सृष्टि-प्रवाह-धारा में एक प्रच्छन्न ऐक्य-बोध है। मनुष्य के चेतन धर्म में बहिःप्रकृति को इस प्रकार मनुष्य की तरह देखने की एक प्रच्छन्न वासना चिरकाल से चली आ रही है। इस वासना का नामकरण नरत्वारोप (anthropomorphism) कर सकते हैं। बहिःप्रकृति को इस तरह मानव के दैहिक रूप और उसके अन्तरपुरुष के समतुल्य देखने की प्रवृत्ति में एक गंभीर आत्मोपलब्धि का आनन्द निहित है—उस आनन्द का ही रूपान्तर हम काव्य में मानवीयकरण में देख पाते हैं। मूक, बधिर, अचेतन प्रकृति को हम अपनी चेतना के द्वारा निरन्तर ज्ञात-अज्ञात रूप से जिस तरह प्राणवन्त बनाते हैं, उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप से काव्य के इस अर्थालंकार द्वारा समझ सकते हैं। काव्य में यहाँ पर हम केवल भावसंवेग का सम्यक् प्रकाश देखकर ही आनन्दित नहीं होते, इसमें हमारा और भी एक प्राप्य रहता है—वह मानवीयकरण का आनन्द है—विश्वप्रकृति में आत्मोपलब्धि का एक निगूढ़ आनन्द! जड़ और चेतन में एक ही रूप एवं एक ही जीवनधारा का आविष्कार कर हम अनजाने ही एक परम आत्मतृप्ति की उपलब्धि करते हैं।

काव्य में मानवीयकरण द्वारा आत्मोपलब्धि का जो यह आनन्द है, वह काव्यानन्द से भिन्न जाति का नहीं है; काव्यानन्द के साथ उसका निविड़ योग है, इसीलिए वह काव्यानन्द से सम्पूर्ण पृथक् रूप से हमें तृप्त नहीं करता। काव्यानन्द के अन्तर्गत सर्वदा ही आत्मोपलब्धि का आनन्द रहता है—विश्व-सृष्टि के सकल सौन्दर्य-माधुर्य, सकल क्षुद्रत्व-विराटत्व, सकल अश्रु-हास के माध्यम से प्रतिनियत साहित्य में हम अपनी आन्तर सत्ता की ही गम्भीर उप-

लक्षित करते हैं। हमें लगता है कि साहित्य में मानवीयकरण के द्वारा आत्मानुभूति का का जो आनन्द है, वह काव्य की इस आत्मानुभूति के मूल आनन्द को ही और भी बढ़ा देता है—यही है काव्य में मानवीयकरण की सार्थकता !

अत्यन्त प्राचीन युग के साहित्य में हम देख पाते हैं कि असंख्य देव-देवी, परी, जल-कन्या-प्रभृति के रूप में ही मानवीयकरण हुआ करता था। वनदेवी, जल-कन्या, परी-प्रभृति के आविर्भाव से जगत् का मध्ययुगीन साहित्य भी भरा पड़ा है; किन्तु जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गए, वैसे-वैसे साहित्य में यह मानवीयकरण एक सूक्ष्म-गम्भीर रूप ग्रहण करता गया। हम बहि:प्रकृति में देव-देवी का आविष्कार न कर बहि:प्रकृति पर ही चेतना का आरोप करने लगे।

इस मानवीयकरण में भी कालिदास का एक स्पष्ट स्वातन्त्र्य है। कालिदास की आँखों के सम्मुख बहि:प्रकृति मानो सर्वदा ही बिल्कुल सजीव एवं सचेतन रहती थी। बहि:प्रकृति के सम्बन्ध में कालिदास की यह भाव-दृष्टि किसी यूरोपीय प्रकृति-कवि के अनुरूप नहीं है। कालिदास ने कभी भी बहि:प्रकृति में किसी अशरीरी आत्मा का आविष्कार या आरोप नहीं किया; बहि:प्रकृति उनके निकट एकान्त सजीव हो उठी है अपने सकल जैव प्राण-धर्मों में, अपनी समस्त चेतना के विलास में। इसमें कोई दार्शनिकता नहीं है—एक स्पष्ट एवं दृढ़ विश्वास और वास्तविक अनुभूति है। 'मेघदूत' काव्य में धूम-ज्योति:-सलिल-मरुत् के संयोग से निर्मित केवल अचेतन मेघ ही दौत्य कार्य करता है, ऐसा नहीं—समग्र बहि:प्रकृति ही विरही यक्ष एवं उसकी विरहिणी प्रियतमा की समस्त वेदना, समस्त माधुर्य, कारुण्य एवं वैचित्र्य को मानो बाँट लेती है—वल्कलावृता 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेन', 'अनाघ्रातं पुष्पं किशलयमलूनं', 'अधरः किशलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू' शकुन्तला भी तपोवन-दुहिता है; नगाधिराज हिमालय-दुहिता 'पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव' उमा भी प्रकृति-दुहिता है; सीता को तो कविगुरु वाल्मीकि ही प्रकृति-दुहिता के रूप में चित्रित कर गए हैं।

कालिदास के काव्यों में अनेक स्थानों पर बहि:प्रकृति ने मनुष्य के साथ समान रूप से काव्य के नायक-नायिकाओं का अंश ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में जिस तरह अनसूया, प्रियम्वदा, दुष्यन्त आदि पात्र हैं, उसी तरह तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र है। इस मूक प्रकृति को किसी नाटक में इतना प्रधान, इतना अत्यावश्यक स्थान दिया जा सकता है, यह हमारे विचार से संस्कृत-साहित्य को

छोड़कर और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति को मनुष्य बनाकर उसके मुँह से वार्तालाप करवा कर रूपकनाट्य रचित हो सकता है—किन्तु प्रकृति को प्रकृति रखकर उसे इतना सजीव, इतना प्रत्यक्ष, इतना व्यापक, इतना अन्तरंग बना लेना और उसके द्वारा नाटक के इतने कार्य सिद्ध करवा लेना—यह तो मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखा।" 'शकुन्तला' के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने जो बात कही है, 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव' प्रभृति काव्यों के संबंध में भी प्राय: वही बात कही जा सकती है। इस तरह कालिदास के समस्त काव्यों में ही बहि:प्रकृति और मनुष्य में एक गम्भीर एकात्मबोध बना हुआ है। बहि:प्रकृति का वर्णन करते समय इसीलिए कवि ने उसे प्राण-धर्म, चेतना-धर्म के द्वारा जीवन्त बना लिया है। 'कुमारसम्भव' में योग-निमग्न महादेव के तपोवन में जब अकाल में वसन्त का आगमन हुआ, तब—

पर्याप्त - पुष्पस्तबक - स्तनाभ्यः
स्फुरत् - प्रवालोष्ठ-मनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस् - तरवोऽप्यवापु—
विनम्रशाखा - भुजबन्धनानि ॥ (३।३९)

'लतावधूगण ने अपने यौवन के लावण्य-प्राचुर्य में ही मानो तरुगण की विनम्र शाखाबाहुओं का बन्धन-लाभ किया था। प्रचुर पुष्प-स्तवक ही उनके स्तन-भार थे और अचिरोद्गत किसलय ही उनके लावण्ययुक्त मनोहर अधर; इस सौन्दर्य के प्राचुर्य के कारण ही मानो वे प्रियतम के निकट सौभाग्यवती हो उठी थीं।' कुछ लक्ष्य करने पर ही देख पायेंगे, 'पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव' उमा के साथ इन समस्त···लतावधुओं की एक निगूढ़ सजातीयता है।

'रघुवंश' में भी देख पाते हैं, जब राजकुमार एवं राजकुमारी इन्दुमती मिले, तब—

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः
स राजसूनुः सुतरां चकाशे।
अनन्तराशोक - लता-प्रवालं
प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ (७।२१)

'सन्निहित अशोक-लता के नव पल्लव को प्रतिपल्लव के द्वारा विजड़ित कर सहकार तरु जिस तरह सुशोभित होता है, नव-परिणीता वधू का हाथ अपने हाथ में लेकर राजकुमार अज भी वैसे ही सुशोभित हुए।' इस उत्प्रेक्षा के पीछे भी

वृक्ष-लतादि के सम्बन्ध में एक मधुर मानवीयकरण की भावना है।

कालिदास ने तरु-लता आदि का जो मानवीयकरण किया है, वह केवल कवि-प्रसिद्धि मात्र नहीं है, उसमें एक स्वतंत्र चारुता है। मूक-बधिर प्रकृति में कवि ने केवल चिराचरित आलंकारिक मतानुसार प्राण-धर्म का आरोपण किया है, ऐसा नहीं; उसमें कवि ने मानव-जीवन के समस्त सूक्ष्म माधुर्य, समस्त गम्भीर रहस्यों का आविष्कार किया था। इसीलिए प्रस्तुत विषय पर अप्रस्तुत का व्यवहार आरोपित करने में भी कालिदास की कवि-प्रतिभा का सूक्ष्म नैपुण्य है। इस मानवीयकरण एवं प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप के सूक्ष्म नैपुण्य द्वारा केवल काव्य का विषय ही सरस हो उठता है, ऐसा नहीं है; वहाँ विषय-वस्तु की सरसता के साथ-साथ अभिव्यंजना में भी एक अपूर्व चारुता आ जाती है—अभिव्यंजना की उस अपूर्व चारुता में ही अलंकार की सार्थकता है। 'शकुन्तला' नाटक में देख पाते हैं, जल-सेचन-रता शकुन्तला सखियों से कहती है—'**एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरावेइ विअ मं केसररुक्खओ, जाव णं सम्भावेमि**'—अर्थात् 'वातास-चंचल पल्लव-रूपी अंगुलि द्वारा छोटा-सा बकुल का पौधा मानो मुझे इशारे से पुकार रहा है—मैं उसका अनुरोध मान लूँ'—यह कह कर शकुन्तला बकुल के पास अग्रसर हुई। प्रियम्वदा बोली—'**हला सउन्दले एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसर-रुक्खओ पडिभाइ**।'—'हला शकुन्तले! यहीं एक मुहूर्त के लिए खड़ी रहो; क्योंकि तुम्हारे पास रहने के कारण यह बकुल ऐसा लगता है जैसे कोई लता उससे लिपटी हुई हो।'

अनसूया पुनः शकुन्तला को पुकार कर कहती है—'हला शकुन्तले! यह वही सहकार की स्वयंवरा वधू नवमालिका है, तुमने जिसका नाम रक्खा था 'वनज्योत्स्ना'— क्या उसे भूल गई हो?' शकुन्तला बोली—'तब तो स्वयं अपने को भूल जाना होगा।' यह कहकर वह वनज्योत्स्ना के निकट गयी एवं उसकी ओर दृष्टिपात कर बोली—

हला रमणीएक्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो सम्वुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धपल्लवदाए उवहोअक्खमो सहआरो।—'हला, इस रमणीय ऋतु में लतापादप-मिथुन का समागम-काल उपस्थित है। नव-कुसुमयौवना यह वनज्योत्स्ना एवं बहुपल्लव-हेतु सहकार तरु भी उपभोगक्षम है।' यह कहकर शकुन्तला लतापादप-मिथुन की तरफ देखती हुई खड़ी रही। शकुन्तला को इस अवस्था में देखकर ईषत्-मुसरा प्रियम्वदा बोली—'अनसूये,

जानती हो, शकुन्तला क्यों वनज्योत्स्ना की ओर अपलक दृष्टि से देख रही है ?' अनसूया बोली—'मुझे तो नहीं मालूम, तुम्हीं बताओ !' प्रियम्वदा ने उत्तर दिया—**जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति**—अर्थात् 'जिस तरह वनज्योत्स्ना अपने अनुरूप पादप के साथ युक्त हुई है, वैसे ही क्या मैं भी अपने अनुरूप वर पा सकूँगी ?—यही सोचकर।'

ईषत्-चपल इस कुमारी तापस-कन्या के तीनों कथोपकथनों से यह स्पष्ट है कि वन-ज्योत्स्ना एवं सहकार तरु यहाँ मूक प्रकृति के केवल अं -मात्र नहीं हैं—उनके साथ यौवन की प्रच्छन्न आशा-आकांक्षाएँ हृदय में छिपाये हुए एक नवीन दम्पती का अभेद सिद्धान्त है; कुमारी-जीवन के उस स्वप्न, उस अभेद सिद्धान्त को अपने मूल में रख कर ही यह समस्त दृश्य इतना सजीव एवं सरस हो उठा है।

पहले ही कहा गया है कि कालिदास के काव्य में प्रकृति के साथ मनुष्य का जो योग है, उसमें परम आत्मीयता का बोध होता है। प्रकृति अपने किसी गम्भीर रहस्यमय आध्यात्मिक रूप में हमारे सामने उपस्थित नहीं होती, वह हमारे निकट अपना रक्त-मांस का कलेवर लेकर ही आती है। उस रक्त-मांस के यथार्थ रूप के साथ मानो हम लोगों का प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषतः सजीव तरु-लता एवं तरुलतावेष्टित तपोवन या वनस्थली, कालिदास के लिए सर्वदा ही सम्पूर्णतः सचेतन है। कालिदास के काव्य में मनुष्य सर्वदा इनके सुख-दुःख से से सुखी एवं दुःखी होता है।

प्रकृति का मानवीयकरण एवं प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कितनी मधुरता से काव्य-सौन्दर्य के साथ युक्त किया जा सकता है, यह 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अंक की एक घटना से स्पष्ट हो जाता है। शकुन्तला के आश्रम से विदा होने के ठीक पहले दो ऋषि-बालकों ने अपने हाथों में नाना प्रकार के प्रसाधन-आभरण लेकर प्रवेश किया। गौतमी ने पूछा—'वत्स हारीत ! यह सब कहाँ से ले आये ?' प्रथम बालक ने उत्तर दिया—'तात कण्व के प्रभाव से।' गौतमी ने फिर पूछा—'तब क्या यह मानसी सिद्धि है ? अर्थात् क्या महर्षि कण्व ने तप:प्रभाव से इन सबकी सृष्टि की है ?' द्वितीय बालक ने उत्तर दिया—'नहीं, नहीं''सुनिये; आप लोगों ने हमें यह आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिए वनस्पतियों से पुष्पादि ले आओ—हम लोगों ने जाकर देखा—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवता - करतलैः - रापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किशलयोद्भेद-प्रतिद्वन्द्विभिः ॥

'किसी वृक्ष ने मंगलकार्य के लिए चन्द्र की तरह पाण्डुवर्ण उपयोगी क्षौम-वस्त्र प्रदान किया—किसी वृक्ष ने चरण के उपरंजन-योग्य तरल अलक्तक रस दिया—अन्यान्य तरुओं के द्वारा वन-देवताओं ने अपने आरक्तिम नवकिसलय-करतल द्वारा एक-दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करते हुए बहुत-से आभूषण दिये।' तपोवन के समस्त वृक्षों के नवपल्लव रूपी आरक्तिम कोमल हस्तों द्वारा मानो वन-देवताओं ने ही पतिगृहगामिनी शकुन्तला को मंगल-उपहार भिजवाये थे ! आश्रम की तरुलताओं ने शकुन्तला को पतिगृह-गमन के समय में मंगल-उपहार दिये—इसका यथेष्ट कारण है और वह कारण है शकुन्तला के साथ इन समस्त तरुलताओं का साक्षात् सम्बन्ध—घनिष्ठ आत्मीयता। इसीलिए शकुन्तला के पतिगृह-गमन के समय तात कण्व ने कहा—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूति-समये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

'हे तपोवन के वृक्षो ! जो पहले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं कभी जल न पीती थी, भूषणप्रिया होने पर भी स्नेहवश जो कभी तुम्हारे कोमल पत्तों को हाथ तक नहीं लगती थी, तुम्हारे फूलों के खिलने के समय जो आनन्दोत्सव मनाती थी—वही शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है; तुम सब उसे जाने की आज्ञा दो !'—महर्षि के इस कथन पर तपोवन ने कोकिल-कण्ठ के द्वारा अनुमति दी थी।

शकुन्तला ने प्रियम्वदा से कहा था—'सखि प्रियम्वदे ! आर्यपुत्र के दर्शन के लिए उत्सुक होने पर भी आश्रम को छोड़कर जाने के लिए मेरे पैर नहीं उठते।' प्रियम्वदा ने उत्तर दिया था—'सखि, केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से कातर हो, ऐसा नहीं; तुम्हारे विरह में तपोवन की भी वही अवस्था है'—

उग्गलिअ-दब्भ-कवला मआ परिच्चत्त-णच्चणा मोरा ।
ओसरिअ-पण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सु विअ लदाओ ॥

'मृगों के मुख से कुश का ग्रास गिरा पड़ रहा है, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया

है, लताओं से पीले पत्ते झड़ रहे हैं, वे भी जैसे विरह में आँसू बहा रही हैं।'

इसके बाद शकुन्तला वनतोषिणी लता को स्मरण कर उसके निकट जाकर बोली—

वणजोसिणी चूदसंगदा वि मं पच्चालिङ्ग इदो गदाहिं साहाबाहाहिं। अज्जप्पहुइ दूरपरिवट्टिणी दे भविसस्म्।'

'हे वनतोषिणी ! आम्र-संगता होने पर भी आज तुम अपनी शाखा-रूपी भुजाओं को इधर प्रसारित कर एक बार मेरा प्रत्यालिंगन करो ! आज मैं तुमसे बहुत दूर जा रही हूँ।'

महर्षि कण्व बोले—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम्
अस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥

'हे शकुन्तले ! मैंने पहले ही तुम्हारे लिए जैसा संकल्प किया था, सुकृति-वश तुमने ठीक वैसा ही, अपने सदृश ही, स्वामी प्राप्त किया, और इस नवमालिका लता ने भी मेरे संकल्प के अनुरूप आम्रतरु का आश्रय प्राप्त किया है। अब तुम्हारे एवं इस वनतोषिणी के सम्बन्धों में मैं निश्चिन्त हुआ।'—तो हम देखते हैं कि वनतोषिणी के साथ केवल शकुन्तला का ही सहोदरा भाव है, ऐसा नहीं; तात कण्व का भी वनतोषिणी एवं शकुन्तला, इन दोनों उद्यान-लताओं के प्रति समान पितृ-स्नेह है—दोनों ही कुमारी कन्या हैं—दोनों को ही योग्य स्वामियों को समर्पित कर कन्यादान से मुक्त पिता आज निश्चिन्त हैं !

इस प्रसंग का किंचिद् विशद विवेचन हम इसलिए कर रहे हैं कि विश्व-प्रकृति के साथ मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध को कालिदास ने कितने सहज रूप में ग्रहण किया था, इस तत्त्व को भली भाँति न समझ पाने पर, कालिदास के अलंकार-प्रयोग के एक मूल रहस्य से हम अपरिचित रह जायेंगे।

हमने पहले ही कहा है कि कालिदास के काव्य में प्रकृति का यह मानवीय-करण एवं मनुष्य के साथ उसका जो आन्तरिक योग है, उसने केवल कालिदास के काव्य की विषय-वस्तु को ही महिमान्वित नहीं किया, काव्य की अभिव्यंजना को भी चित्र के बाद चित्र द्वारा मधुरतर बना दिया; मनुष्य के जीवन के एक सुकुमार अध्याय को उक्ति की तूलिका से काव्य में अंकित करते समय उन्होंने विश्व-प्रकृति को केवल पृष्ठभूमि के रूप में नहीं ग्रहण किया—जीवन के सम-

पर्याय में रख कर अपने चित्रों में उन्होंने प्रकृति के प्रवाह को ग्रहण किया है।

केवल 'शकुन्तला' नाटक में ही हम प्रकृति के साथ मनुष्य के इस आन्तरिक योग का संधान पाते हों, ऐसा नहीं; प्रकृति के साथ मनुष्य का यह घनिष्ठ सम्बन्ध, भाव का यह आदान-प्रदान कालिदास के काव्य में प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में देख पाते हैं कि राजा दिलीप मुनि की धेनु की परिचर्या के लिए समस्त पार्श्वानुचरों का परित्याग कर वन में विचरण करते थे; किन्तु कवि ने कहा है कि उस वनस्थली ने महाराज दिलीप को पार्श्वानुचर-विहीन रूप से विचरण नहीं करने दिया—

विसृष्ट - पार्श्वानुचरस्य तस्य
पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासु - रिवोन्मदानां
आलोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ (२।८)

'वरुण-सदृश महाराज दिलीप द्वारा समस्त पार्श्वानुचरों का परित्याग करने पर भी वन के वृक्ष-समूह ही उनके पार्श्वचर बन गए थे; उन्मद विहंग-काकली के द्वारा वे सब सम्मिलित रूप से महाराज दिलीप की जय-ध्वनि करने लगे।'

केवल तरुण वृक्ष श्रेणीबद्ध रूप से खड़े होकर पार्श्वचर की तरह जय-ध्वनि करते हों, इतना ही नहीं था—

मरुत् - प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं
तमर्च्यमारा - दभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललता प्रसूनै-
राचारलाजैरिव पौर-कन्या ॥ (२।१०)

'अग्नि की प्रतिमूर्ति राजा दिलीप के मस्तक पर उस वनस्थली में भी पौर-कन्याओं द्वारा लाजा-वर्षण हुआ था—समीरण-द्वारा ईषत्-आन्दोलित बाल-लताओं ने पौर कन्याओं की तरह उनके मस्तक पर शुभ्र प्रसूनों की लाजांजलि अर्पित की थी।' राजा यहाँ 'मरुत्सखाभं' अर्थात् अग्नि की प्रतिमूर्ति हैं, और अग्नि-सखा राजा के आगमन पर वायु उनसे स्वयं मिलने आयी थी। वह वायु मानो राजदर्शन से उत्पन्न आनन्द का बन्धनहीन प्रवाह-मात्र थी, जिसने बाल-लता-रूपी पौरकन्याओं के हाथों से शुभ्र फूलों की लाजांजलि बरसा दी!

केवल आनन्द के दिनों में ही प्रकृति ऐसी अभ्यर्थना करती है, ऐसा नहीं, मनुष्य के दुःख में भी उसकी गम्भीर समवेदना रहती है। इन्दुमती के विरह में राजा अज जिस दिन करुण स्वर में रो उठे थे, उस दिन भी—

विलपन्निति कोसलाधिपः
करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि,
स्रुतशाखारस-बाष्प-दूषितान् ॥ (८।७०)

"प्रिया के लिए कोसलाधिपति जब करुण वाक्य कहकर बहुत विलाप करने लगे, तब उस विलाप से वृक्षों की आँखों में भी आँसू भर आये और शाखा-रस के रूप में मानो आँसू ही बहने लगे।'

रामचन्द्र ने भी सीता के साथ विमान में लंका से लौटते समय उनसे कहा था—

एतद्गिरे - र्माल्यवतः पुरस्ताद्
आविर्भवत्यम्बरलेखि शृंगम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च
त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ (१३।२६)

"यह देखो, सामने माल्यवान् पर्वत के ये अभ्रभेदी शिखर आँखों के निकट ही चले आ रहे हैं। यहाँ तुम्हारे वियोग में मैंने बहुत आँसू बहाये हैं और सजल नवीन मेघ भी यहाँ मेरे साथ बहुत आँसू बहाया करता था।' माल्यवान् के शिखर पर मैं और मेघ समान रूप से तुम्हारे विरह में अश्रु-विसर्जन करते थे—'त्वद्विप्रयोगाश्रुसमं विसृष्टम् !'

लक्ष्मण ने जिस दिन सीता को जाह्नवी के किनारे ले जाकर उन्हें राम द्वारा उनके निर्वासन की आज्ञा सुनायी थी, उस दिन धरणीसुता सीता वाताहता वल्लरी की तरह धरती माता की गोद में ही लोट गई थीं—

ततोऽभिषंगा - निलविप्र - विद्धा
प्रभ्रश्य - मानाभरण - प्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभ - प्रकृतिं धरित्रीं
लतेव सीता सहसा जगाम ॥ (१४।५४)

'उस विपत्ति की वायु से आहत सीता अपने रत्नालंकार-रूप कुसुमों का परित्याग कर, लता की तरह अपनी माता धरित्री की गोद में पछाड़ खाकर गिर पड़ीं।' करुणा को कवि और भी कितना करुण बना सकते हैं ! धरती माता भी विपत्ति के आघात से भूलुण्ठिता असहाय कन्या की इस तीव्र वेदना से आकुल हो उठीं। सीता ने एक क्षण के लिए धैर्य धर कर लक्ष्मण को बहुत-सी बातें कहीं थीं; किन्तु जब लक्ष्मण धीरे-धीरे आँखों की ओट में चले गए, तो

बाणविद्धा कुररी की तरह सीता फूट-फूट कर रो पड़ीं। तब करुण-विलापिनी सीता के उस हृदय-विदारक क्रन्दन से समस्त वनस्थली भी मानो सहसा रो उठी—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा-
दर्भानुपात्तान् विजहु - र्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावम्
अत्यन्तमासीद् - रुदितं वनेऽपि ।। (१४।६९)

'मोरों ने नाचना छोड़ दिया, वृक्षों से झर-झर कर कुसुम झड़ने लगे, हरिणों के मुँह से आधा चबाया हुआ कुश-गुच्छ गिर पड़ा। सारी वनस्थली ही मानो संवेदना में सीता की तरह आकुल हो अश्रु-विसर्जन करने लगी।'

'मेघदूत' में विरही यक्ष भी कहता है—

मामाकाश - प्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतोः
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ।।

(उ० मे० ४५)

'हे प्रियतमे ! स्वप्न में अत्यन्त कष्ट से तुम्हें प्राप्त कर प्रगाढ़ आलिंगन के लिए जब शून्य में अपनी युगल भुजाओं को प्रसारित करता हूँ, तब यह देखकर वन-देवता प्रचुर अश्रु-वर्षण नहीं करते हों—ऐसा नहीं है; क्योंकि तरु-पल्लवों के बड़े-बड़े मोतियों-से आँसू वेदना से चू पड़ते हैं।'

'कुमारसम्भव' में देख पाते हैं—'प्रबल झंझामयी वृष्टि के समय भी अनावृत स्थान में शिलातलशायिनी उमा को मानो उसकी इस महान् तपस्या की साक्षिणी होने के लिए रजनी अपने विद्युत् के नयन उन्मीलित कर देखने लगी'—

शिलाशयां तामनिकेत - वासिनी
निरन्तरास्वन्तर - वातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस् - तडिन्मयै-
र्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ।। (५।२५)

यह केवल वर्णन ही नहीं है, प्रत्येक कथन के द्वारा मानो मूर्त हो उठा है मनुष्य के साथ विश्व-प्रकृति का अन्तरतम योग। कोमलांगी उमा पार्वत्य विजन में रात्रि के घने अँधेरे में भी कैसी कठोर तपस्या कर रही है, इसे देखने के लिए

और कोई नहीं था; अपनी विद्युन्मयी दृष्टि द्वारा उस महा तपस्या की साक्षिणी बनी वह झंझामयी महानिशा !

कालिदास ने बहि:प्रकृति और मनुष्य के गम्भीर आत्मीयता-बोध को लेकर उपमाओं के जितने चित्र खींचे हैं, उनमें एक अभिनव चित्र है छोटी-छोटी तरुलताओं के सम्बन्ध में नारी की महिमामयी मातृमूर्ति का। हमने 'शकुन्तला' नाटक के प्रथम अंक में देखा है, अनसूया से शकुन्तला ने छोटे-छोटे तरुओं और लताओं के सम्बन्ध में कहा था :

ण केअलं ताद-णिओओ एव्व, अत्थि मे सोदरसिणेहवि एदेसु ।

'केवल तात कण्व की आज्ञा ही नहीं, इनके साथ मेरा अपना भी सोदर-स्नेह है'—यह कह कर शकुन्तला ने उन छोटी-छोटी लताओं की जड़ों को अपनी कलसी के जल से सींचा। अन्यत्र कवि ने कहा है कि 'यह जल-सिंचन मानो मातृवक्ष का स्नेह-सिंचन हो, मानो घट-रूप स्तन से मातृवक्ष का दुग्ध-सिंचन हो।' 'कुमारसम्भव' में तपस्वी उमा के रूप में स्पष्ट हो उठी है कुमारी की महिमामयी वह मातृमूर्ति :

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तन - प्रस्रवणै - र्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां
न पुत्रवात्सल्य - मपाकरिष्यति ॥ (५।१४)

'तपस्विनी उमा घट-रूपी स्तन के प्रस्रवण द्वारा स्वयं ही छोटे-छोटे वृक्षों को बड़ा करने लगीं। उन वृक्ष शिशुओं के ऊपर कुमारी उमा का ऐसा पुत्रवत् वात्सल्य-भाव हो गया था कि बाद में कुमार कार्तिक भी उस पुत्र-वात्सल्य को कम नहीं कर सके।' 'रघुवंश' में भी देख पाते हैं, माया-सिंह राजा दिलीप से कहता है :

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं
पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भ - स्तननिःसृतानां
स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ (२।३६)

'इस दूरवर्ती देवदारु को देख रहे हैं क्या ? वृषभध्वज शिव ने उसे अपना पुत्र मान लिया है। यह देवदारु कुमार स्कन्द की माता पार्वती के हेमकुम्भ-रूपी स्तनों से निःसृत दुग्धधारा का आस्वाद प्राप्त कर सका है।' नारी के मातृ-हृदय के साथ प्रकृति-माता के दुलारे इन छोटे-छोटे वृक्षों और लताओं का

कितना निविड़ संयोग हो सकता है, यह इस तरह और कहीं नहीं देख पाये हैं—'हेमकुम्भस्तननि:सृतानां पयसां रसज्ञ:' ! इसके द्वारा केवल प्रकृति और मनुष्य की गम्भीर आत्मीयता का ही प्रकाश हुआ हो, ऐसा नहीं है; इसके द्वारा प्रकट हुई है विश्व-नारीहृदय में संचित अक्षय मातृत्व की स्नेहमयी महिमामयी मूर्त्ति ! इसके बाद के ही श्लोक में देख पाते हैं :

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्
वन्यद्विपेनो - न्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रे - स्तनया शुशोच
सेनान्य - मालीढ - मिवासुरास्त्रैः ॥ (२।३७)

'एक दिन एक वन्य हाथी ने अपने शरीर से रगड़कर उस देवदारु की थोड़ी छाल उतार दी थी, तब उसके लिए गिरिदुहिता पार्वती को ठीक वैसा ही शोक हुआ था जैसा शोक हुआ था उन्हें असुरों द्वारा क्षत-विक्षत कुमार कार्तिक के शरीर को देखकर ।'

निर्वासिता सीता से भी महर्षि वाल्मीकि ने कहा था—

पयोघटै - राश्रम - बालवृक्षान्
संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः
स्तनन्धय - प्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ (१४।७८)

'हे सीते, तुम अपनी शक्ति के अनुसार जल का घड़ा लेकर आश्रम के छोटे-छोटे वृक्षों को सींचकर निश्चय ही सन्तान-जन्म के पूर्व ही स्तन्यदान की प्रसन्नता प्राप्त करोगी ।'

स्नेहमयी नारी के लिए बाल-वृक्ष को छोटी कलसी से सींचकर बड़ा करने में जो एक अनिर्वचनीय माधुर्यपूर्ण महिमा है, वह कवि कालिदास की आँखों के समक्ष जितनी स्पष्ट थी, हमारी समझ में उतनी और किसी के निकट नहीं ।

जड़-प्रकृति केवल बाहरी रूप में ही मनुष्य तथा समस्त प्राणि-जगत् के समकक्ष हो उठती है, ऐसा नहीं है; मनुष्य के महत्तर गुण-समूह में भी मनुष्य के साथ इस जड़ में प्रकृति का जो साधर्म्य है, वह कभी कालिदास की दृष्टि से अगोचर नहीं था । 'रघुवंश' में देख पाते हैं कि महाराज दिलीप प्रजागण के सर्वविध हित के लिए प्रजा से कर ग्रहण करते थे । कवि का कथन है कि प्रकृति में भी इसका दृष्टान्त पाया जाता है—

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः (१।१८)

'सूर्य जिस तरह पृथ्वी में जहाँ भी जैसा अपरिष्कृत, अपरिशुद्ध, दुर्गन्धयुक्त जल है, सबको अपने किरणरूपी राजकर्मचारियों की सहायता से ग्रहण करता हैं। किन्तु प्रतिदान में जो स्वच्छ-शुद्ध वारिधारा लौटा देता है, वह गृहीत धन से हजार गुना अधिक है।' 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में भी देख पाते हैं—'राजा रघु ने प्रजा से जो कुछ सम्पत्ति ग्रहण की थी, विश्वजित् यज्ञ कर दक्षिणा के रूप में उन्होंने उस समस्त धन को फिर लौटा दिया था।' कवि कहता है, 'जो सद्व्यक्ति हैं, वे प्रदान के लिए ही ग्रहण करते हैं—जैसे भाप के रूप में ग्रहण करने वाला एवं धारा के रूप में बरसाने वाला मेघ'—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्व-दक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ (४।८६)

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पंचम अंक में देख पाते हैं—यूथपति हाथी जिस तरह कड़ी धूप में अपने यूथ के साथ विचरण कर मध्याह्न में कुछ समय के लिए छाया में विश्राम ग्रहण करता है, महाराज दुष्यन्त भी उसी तरह दिन-भर राजकार्य कर कुछ विश्राम के लिए भीतर गये। उसी समय आश्रम से समागत मुनिगण एवं शकुन्तला का सम्वाद राजा को देने में कंचुकी इतस्ततः कर रहा था, किन्तु दूसरे क्षण ही फिर उसने सोचा—'अथवा अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः'; अर्थात् लोकतन्त्राधिकारी के लिए विश्राम नहीं है—

भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहित - भूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥

'एक ही बार अपने रथ में घोड़े जोतकर सूर्य अबतक चला जा रहा है, गन्धवह वायु रात-दिन बहती ही रहती है, शेषनाग सर्वदा ही भूमि का भार वहन करते हैं, षष्ठांशवृत्ति राजा का भी यही धर्म है।' इसके बाद वैतालिक राजा दुष्यन्त का यशोगान करते हैं :

स्व-सुख-निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवं विधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

'हे महाराज ! अपने सुख के लिए निरभिलाष होकर आप प्रतिदिन प्रजा

के लिए क्लेश वरण करते हैं, अथवा आपके सदृश व्यक्तियों का जन्म मानो ऐसे ही कार्य करने के लिए होता है, वृक्ष अपने माथे पर प्रखर सूर्यकिरणें झेलते हैं, किन्तु उनके नीचे जो आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में वे ज़रा-सा भी ताप नहीं लगने देते—उनको अपनी शीतल छाया ही प्रदान करते हैं। शार्ङ्गरव ने भी राजा दुष्यन्त का विनय देखकर कहा था :

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

'तरुगण फलागम से झुक जाते हैं, नवजल-भार से मेघ झुक जाते हैं, समृद्धि में भी सत्पुरुष अनुद्धत रहते हैं—परोपकारियों का यही स्वभाव है !'

अमूर्त्त मानसिक अवस्था-प्रकाशन और कालिदास की उपमा

उपमा पर विचार करते समय हमने पहले ही कहा है कि उपमा भाषा का चित्र-धर्म है, और यह बात भी हमने स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि हमारी बोध-क्रिया सम्पूर्णतः नहीं, तो अधिकांशतः निर्भर करती है भाषा के चित्र-धर्म पर । एकदम शुद्ध शब्द-जन्य ज्ञान के सिद्धान्त को हम व्यावहारिक क्षेत्र में स्वीकार नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त हमने इस बात का भी आभास दिया है कि शुद्ध 'शब्द' के इतिहास के पीछे भी कहाँ कौन-सी प्राकृतिक वस्तु या घटना की अनुकृति छिपी है, यह भी सम्भवतः हम आज भूल गए हैं—आज सम्भवतः वायुमण्डल के ध्वनि-कम्पन के साथ-साथ वह हमारे अचेतन लोक में ही भूल रही है। अवश्य ही जब हम वस्तु का बोध करते हैं, तब उस ज्ञान-क्रिया में वस्तु का यथार्थ रूप ही रहता है, अथवा उसके सम्बन्ध में गठित केवल मानसिक वृत्ति ही रहती है, अथवा उसको हम केवल शब्द-जन्य ज्ञान द्वारा ही समझ लेते हैं—इसे लेकर पण्डित-मण्डली में यथेष्ट मतभेद है; किन्तु उन समस्त सूक्ष्म तर्कों के जाल में प्रविष्ट न होकर भी साधारण बुद्धि से हम देख सकते हैं कि उसी वस्तु को हम सबसे अच्छी तरह समझ पाते हैं, जो हमारे मानस-लोक में एकान्त प्रत्यक्ष होकर उभर आती है। इसीलिए अपने वस्तु-वियोजित अमूर्त्त विचारों को हम जितना ही रूप के द्वारा मूर्त्त बना सकते हैं, हमारी बोध-क्रिया उतनी ही सहज हो जाती है। इस प्रत्यक्षी-करण के लिए ही उपमादि अलंकार एक के बाद एक छवि अङ्कित करते रहते हैं। यहाँ तक कि साधारण चित्त-वृत्ति को भी हम जब एक यथार्थ चित्र का रूप दे पाते हैं, तभी वह हमारे निकट सर्वाधिक स्पष्ट हो उठती है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में देख पाते हैं—शकुन्तला से प्रथम साक्षात्कार के बाद राजा दुष्यन्त के मन में नगर लौट जाने की इच्छा नहीं हो रही है; हृदय जैसे पीछे छूटी आश्रमवासिनी शकुन्तला के प्रति ही आकृष्ट होकर रह गया है, अथच शरीर को आगे ले जाना पड़ रहा है। मन की इस प्रतिकूल अवस्था

को कालिदास ने एक ही उपमा की सहायता से स्पष्ट किया है :

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥

'शरीर आगे की ओर चल रहा है—असंस्थित चित्त पीछे की ओर दौड़ रहा है—ठीक जैसे सम्मुख नीयमान पताका का सूक्ष्म रेशमी वस्त्र प्रतिकूल वायु से पीछे उड़ता रहता है।' नवीन प्रेमासक्त हृदय का प्रत्येक सूक्ष्म स्पन्दन मानो इस प्रतिकूल वायु में नीयमान चीनांशुक के प्रत्येक कम्पन में हमारे निकट प्रत्यक्ष हो गया है।

पंचम अंक में आर्या गौतमी एवं शार्ङ्गरव प्रभृति मुनिगण ने शकुन्तला के साथ राज-सभा में प्रवेश कर शकुन्तला का परिचय दुष्यन्त की पूर्व-विवाहिता पत्नी के रूप में दिया, तब राजा उसे पहचान नहीं पाये; किन्तु उसके अनुपम रूप से आकृष्ट होकर उसका परित्याग भी नहीं कर पा रहे थे। शकुन्तला पूर्व-विवाहिता पत्नी है कि नहीं, इसका स्मरण न होने पर उसे ग्रहण भी नहीं कर पा रहे थे। राजा की वह मानसिक अवस्था ठीक जैसे एक अन्तस्तुषार कुन्द के चारों ओर मँडराने वाले भौंरे की तरह थी। कुन्द के अन्तःस्थित तुषार के कारण उसके वक्ष के मधु का भोग भी भ्रमर नहीं कर पाता और कुन्द के मधु-लोभ से आकृष्ट हो किसी भी तरह उसका परित्याग भी नहीं कर पाता। शकुन्तला-रूपी कुन्द-पुष्प का वक्ष मानो विस्मृति-रूपी तुषार से ढक गया है—इसीलिए उसे ग्रहण भी नहीं कर पा रहा है और उस अनुपम कान्त माधुर्य का परित्याग भी नहीं कर पा रहा है :

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥

स्मारक अंगूठी को पाकर शकुन्तला के विरह में कातर दुष्यन्त विदूषक से कहता है—'शकुन्तला से मेरा मिलन स्वप्न था, अथवा माया, या मतिभ्रम—कुछ भी समझ नहीं पाता हूँ—अथवा वह मिलन मानो परिक्षीण किंचित् पुण्य का फल-मात्र था; वह शकुन्तला अब नहीं लौटेगी—सब समाप्त हो गया—अब शकुन्तला के सम्बन्ध में मेरे सब मनोरथ ही तट-प्रपात की तरह हैं—

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्यै तवतीत - मेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥

'प्रतिकूल स्रोत के आघात से तट-भूमि जिस तरह धीरे-धीरे टूट कर धँस जाती है, शकुन्तला के सम्बन्ध में मेरे समस्त अभिलाष भी अब वैसे ही एक के बाद एक भग्न हो जायेंगे।'

इसी नाटक के अन्त में देख पाते हैं—राजा दुष्यन्त महर्षि मारीच से कह रहे हैं—मैं शकुन्तला को देखकर, उसके मुख से समस्त पूर्वकथा सुनकर भी कुछ स्मरण नहीं कर पाया; अन्त में अँगूठी देखने पर मेरी समस्त स्मृति लौट आयी।

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नतिक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥

'ठीक जैसे हाथी जब सामने आया, तो लगा कि यह हाथी नहीं है; वह जब चला गया, तो मन में सन्देह जागा; उसके बाद पद-चिह्न को देखकर विश्वास हुआ कि यह हाथी ही था!—मेरे मन का विकार भी ठीक ऐसा ही था।' हाथी को प्रत्यक्ष देखकर नहीं पहचान पाया—केवल पद-चिह्न देख कर पहचान सका कि जो सामने से चला गया, वह हाथी ही था! सामने आकर राजसभा में शकुन्तला खड़ी हुई थी—उसने कितने पूर्व-परिचय दिये थे—किन्तु उस दिन किसी भी तरह उसे पहचान न पाया; बाद में उसे पहचान सका हाथ की अँगूठी देखकर!

महर्षि मारीच के आश्रम में धूसरवेणी तपस्विनी शकुन्तला के चरण-तल में लोटकर दुष्यन्त ने कहा था :

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेश-व्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसा - मेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया ॥

'हे सुतनु! प्रत्याख्यान-जनित दुःख एवं क्षोभ को हृदय से दूर कर दो! मालूम नहीं, तब कैसा सम्मोह मेरे हृदय में प्रबल हो उठा था। प्रबलतमसा-

व्यक्तियों की शुभ कार्य में ऐसी ही मानसिक अवस्था हुआ करती है—अन्धे के गले में फूलों की माला डाल देने पर भी वह साँप की आशंका से उसे दूर फेंक देता है।'

'मेघदूत' में विरही यक्ष मेघ से कहता है :

> तां चावश्यं दिवसगणना तत्परामेकपत्नी-
> मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
> आशाबन्धः कुसुम-सदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
> सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

'हे मेघ ! अबाध गति से आगे बढ़ते जाने पर तुम अपनी पतिव्रता भाभी को देख पाओगे; वह अभी तक जीवित है एवं मेरे लिए दिन गिन-गिन कर समय बिता रही है। वृन्त जैसे झरने वाले फूल को भी झर कर मिट्टी में मिलने देना नहीं चाहता—उस वृन्त के साथ झरने वाले फूल का दृष्टि एवं मन से अगोचर जो एक रहस्यमय सम्बन्ध है—वही मानो विरही हृदय की आशा का रूप है।'

'कुमारसम्भव' में देख पाते हैं—

महादेव ब्राह्मण ब्रह्मचारी के छद्मवेश में आकर कठोर तपस्या-रता उमा को तपस्या से विमुख करने के लिए प्रचुर शिव-निन्दा करते हैं। पहले उमा बहुत प्रतिवाद करती है, किन्तु वाचाल, चपल ब्राह्मण किसी भी तरह हार नहीं मान रहा है, यह देखकर उमा वहाँ से अन्यत्र जाने का उपक्रम करती है, किन्तु वेग-वशतः उनका स्तन-वल्कल खिसक जाता है, तब महादेव अपनी मूर्त्ति धारण कर हँसते हुए उमा को पकड़ लेते हैं। तब :

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
> र्निक्षेपणाय पदमुद्धृत - मुद्वहन्ती।
> मार्गाचल - व्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥ (५।८५)

'महादेव को सम्मुख देखकर घर्माक्तकलेवरा कम्पान्विता गिरिराजनन्दिनी आगे जाने के लिए चरण को ऊपर उठाकर भी, जा भी न सकी, रह भी न सकी—'न ययौ न तस्थौ'—ठीक जैसे पथ के बीच ही पर्वत के द्वारा प्रतिरुद्ध-गति व्याकुला नदी हो।' उमा के हृदय में जो युगपत् प्रवाहित क्रोध, आनन्द, लज्जा एवं संकोच के भाव थे, वह उनमें से किसी को भी, प्रकट भी नहीं कर पा रही थी, रोक भी नहीं पा रही थी। सामने खड़े हुए महादेव कल-प्रवाहिता

सिन्धु के सामने अचल पाषाण-स्तूप की तरह थे। उमा की केवल बाहरी गति में ही बाधा पड़ी हो, ऐसा नहीं है; उसके आन्तरिक प्रवाह में भी बाधा पड़ी है। इसीलिए पर्वत-प्रतिरुद्धा नदी की तरह गिरिराजसुता 'न ययौ न तस्थौ'। पर्वत के द्वारा सहसा प्रतिरुद्ध होने पर भी नदी जिस तरह सम्मुख और अग्रसर न हो सकने पर अन्तर्वेग के कारण केवल अपने भीतर ही उमड़ती रहती है, गिरिराजसुता उमा का अन्तर्निबद्ध भाव-संवेग भी उसी तरह मानो उमड़ पड़ रहा था।

'मालविकाग्निमित्र' में देख पाते हैं—विदूषक ने जब निकट ही दण्डायमान मालविका का सन्धान दिया, तब राजा ने कहा :

त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां
हृदयमुच्छ्‌वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः
सरित - मार - सितादिव सारसात्॥

'तुमसे समीपगता प्रिया की बात सुनकर मेरा कातर हृदय उसी प्रकार पुनः उच्छ्‌वसित हो उठा है, जैसे पिपासार्थ जलान्वेषी पथिक सारस के कलरव से समीपवर्ती तरुराजि-समावृत जलाशय का संधान प्राप्त कर उच्छ्‌वसित हो उठता है।'

'विक्रमोर्वशीय' में देखते हैं, मूर्च्छाभंग के बाद उर्वशी का कोमल तनु जैसे तट-पतन-कलुषा गंगा की पुनः प्रशान्त मूर्ति हो :

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गंगा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥

और उर्वशी जब आकाश में अन्तर्धान हुई, तब राजा विक्रम ने कहा :

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रात्
सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥

'सुरांगना उर्वशी मेरी देह से मन को ठीक उसी तरह खींच ले गई, जैसे राजहंसी खण्डिताग्र मृणाल से खींच लेती है सूक्ष्म मृणाल-सूत्रों को।'

'रघुवंश' में देख पाते हैं कि जब एक सुरांगना हरिणी का रूप धारण कर अपने कामोद्दीपक विलास-विभ्रम से तपोमग्न ऋषि के चित्त में चांचल्य उपस्थित कर तपस्या में विघ्न डालने की चेष्टा करती है, तब अपने तप-प्रभाव

से ऋषि समस्त भेद जान जाते हैं एवं उनके ध्यान-समाहित प्रशान्त चित्त में सहसा क्रोध का उद्रेक होता है और ऋषि उसे शाप देते हैं। तपोमग्न ऋषि के योग-समाहित चित्त में तपोभंग का यह विक्षेप जैसे प्रशान्त सागर-तट पर प्रलय-तरंगों का आघात हो :

स तपः प्रतिबन्धमन्युना
प्रमुखाविष्कृत - चारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां
शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ (८।८०)

'रघुवंश' में अन्यत्र देख पाते हैं—अभिशापमुक्त गन्धर्वकुमार राजा अज से कहता है :

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चात्
मया महर्षि - मृंदुतामगच्छत्।
उष्णत्व - मग्न्यातप - संप्रयोगात्
शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ (५।५४)

'बाद में जब मैंने प्रणत होकर महर्षि से प्रार्थना की, तो वे शान्त होकर मुझ पर प्रसन्न हुए; जल में उष्णत्व तो अग्नि-संयोग के कारण ही आता है, किन्तु शीतलता ही है जल की प्रकृति।' यहाँ स्वभाव-शीतल, तपस्वी-प्रकृति हमारे निकट प्रत्यक्ष हो उठी है। आकाशगामी नारद की वीणा से च्युत दिव्य माला के स्पर्श से चेतनाहीन इन्दुमती को अपनी गोद में लेकर राजा अज विलाप कर रहे हैं :

तदपोहितुमर्हसि प्रिये
प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
ज्वलितेन गुहागतं तमः
तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ (८।५४)

'हे प्रिये! तुम सचेतन होकर तत्क्षण ही मेरे समस्त विषाद को उसी तरह दूर कर दे सकती हो, जिस तरह रात में सहसा प्रज्वलन के द्वारा ओषधियाँ हिमालय के गुहागत अन्धकार को क्षण-भर में दूर कर देती हैं।'

त्रयोदश सर्ग में सीता को निकट बैठाकर विमान द्वारा अयोध्या लौटते समय श्री रामचन्द्र उनसे कह रहे हैं :

क्वचित् पथा संचरते सुराणां
क्वचिद् घनानां पततां क्वचिच्च।

यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः
प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ (१३।१६)

'हे सीते ! हम लोगों का यह विमान कभी आकाश में देवताओं के पथ पर चलता है, कभी मेघों के पथ पर चलता है और कभी विहंगमों के विचरण-पथ पर; आज मेरे मन की अभिलाषाएँ जिस तरह घूम-फिरकर बंकिम गति से चल रही हैं, उसी तरह उड़ा जा रहा है हम लोगों का यह विमान भी।' आज सीता का उद्धार कर चौदह वर्षों के बाद उसे निकट बैठाकर रामचन्द्र अयोध्या की ओर जा रहे हैं, बंकिम गति से अनेक पथों पर घूमने-फिरने वाली उनकी अभिलाषाएँ मानो अनेक पथों पर विचरण करने वाले इस विमान के रूप में मूर्त हो उठी हैं।

हम लोग जिन्हें साधारणतः वस्तु-वियोजित या अमूर्त गुण कहकर एक दम रूप-वर्णहीन समझते हैं, उनमें बाहरी तौर पर कोई रूप या वर्ण नहीं है, यह सच है; किन्तु अनेक क्षेत्रों में हमारे मन में उनके भी रूप एवं वर्ण रहते हैं। अवश्य ही अनेक स्थानों पर इन समस्त गुणों के रूप या गुण विशेषण-विपर्यय (transfferred epithet) मात्र हैं। जैसे हमारे विषाद-मग्न मुख की म्लानता लेकर ही हमारे दुःख का रूप काला हो उठा है, हमारे व्रीड़ा-रक्तिम मुख की लालिमा मलकर ही मानो लज्जा आप ही लाल हो उठी है, तथैव हमारी आनन्दोज्ज्वल मुख-कान्ति से संश्लिष्ट होकर ही हमारी हँसी ने शुभ्रवर्ण धारण किया है। संस्कृत आलंकारिकों के द्वारा जिनका कवि-समय के रूप में उल्लेख हुआ है, अनेक क्षेत्रों में वे विशेषण-विपर्यय ही हैं। 'रघुवंश' में देख पाते हैं कि राजकुमार अज ने अपने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को परास्त कर विजय-शंख बजाया। कवि कहता है—'राजकुमार ने जब विजय-वार्ता की घोषणा करने के लिए अपने ओष्ठ शुभ्र शंख पर रखे, तब ऐसा लगा कि वीर कुमार मानो स्वहस्तोपार्जित मूर्त यशोराशि का ही पान कर रहे हैं'—

ततः प्रियोपात्त - रसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जित - मेकवीरः
पिबन् यशो मूर्तमिवावभासे ॥ (७।६३)

श्वेत शंख मानो मूर्त शुभ्र यशोराशि हो! केवल इसी में उत्प्रेक्षा का समस्त माधुर्य है, ऐसा नहीं; थोड़ा विचार करने पर यह दीख पड़ेगा कि राजकुमार अज की यशोराशि जैसे एक धवल शंख में मूर्त हो उठी है, वैसे

ही अज का शौर्य-वीर्य भी इस एक उत्प्रेक्षा में बहुत-कुछ मूर्त्त हो गया है।
'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में भी देख पाते हैं—'वशिष्ठ के आश्रम में वशिष्ठ की आज्ञा पाकर अत्यन्त तृष्णार्त्त राजा दिलीप ने बछड़े के पीने के बाद बचा हुआ नन्दिनी का दूध पीकर प्यास बुझायी। नन्दिनी की उस शुभ्र दुग्धधारा का पान कर राजा ने जैसे मूर्त्त यशोराशि का ही पान किया'—

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा
सद्वत्सलो वत्स-हुतावशेषम्।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः
शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः॥ (२।६९)

'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में देख पाते हैं—वीरकेशरी रघुराज ने शरत् के समागम पर विजय-अभियान किया, तब—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव॥ (४।१९)

'श्वेत हंसमाला, श्वेत नक्षत्रराज, शुभ्र कुमुद-पुष्प, शरत् की शुभ्र जल-राशि—इन सब के भीतर मानो राजा रघु की यशोविभूति ही विकीर्ण हो रही थी।'

किन्तु हमारे इस कोटि के अशरीरी गुण या मानसिक भाव किस वस्तु के संग एक नित्य सम्बन्ध के कारण विशेष रूप या वर्ण ग्रहण करते हैं, यह अत्यन्त कौतूहलप्रद है। सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी रक्तकमलवर्णा हैं—विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती कुन्देन्दु-धवला। इसके पीछे भी सूक्ष्म कारण है। सम्पत्ति में जो तरल आनन्द है, जो गर्वान्धिमत्तता है, जो रजोगुणोचित्त उत्तेजना है, वह हमारे चित्त को ठीक उसी तरह आन्दोलित करती है, जिस तरह रक्तकमलवर्ण हमारे चित्त में स्पन्दन जगाता है। और ज्ञान में जो स्वच्छता है, जो विशुद्धता है, जो सात्विक उज्ज्वलता है, जो गम्भीर प्रशान्ति है, वह हमारे चित्त को निर्मल प्रशान्ति से भर देती है—कुन्देन्दुधवल कान्ति! इसीलिए तो देखते हैं—कवि ने उमा की प्राक्तन विद्या की तुलना की है शरत् की गंगा में शुभ्र हंसमाला के साथ, और रात्रि में ओषधि के आत्मभास के साथ।

अलंकारों में सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य का विवेचन

उपमा के सम्बन्ध में विचार करते समय और एक बात सहज ही दृष्टि-गोचर होती है कि हम तब तक सामान्य (General) सत्य को स्पष्टता-पूर्वक नहीं समझ पाते, जब तक उसे किसी विशेष में प्रत्यक्ष नहीं कर लेते। जो दुर्ज्ञेय तत्त्व के घने जंगल में निरुद्ध हो उठता है, वही एक छोटी-सी उपमा में उन्मुक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य 'विशेष' से वियोजित 'सामान्य' पर विचार करने का अभ्यस्त नहीं है; उस मानसिक वियोजन (abstraction) में मन के ऊपर एक बल-प्रयोग होता है जो साधारण मन के लिए क्लेश-साध्य है। इसीलिए 'सामान्य' से 'विशेष' पर पहुँचकर केवल हमारी जानी हुई वस्तु ही सहज हो उठती है, ऐसा नहीं; बोध-क्रिया के इस सहजत्व के द्वारा एक सुखमयत्व, एक ह्लादजनकता आ जाती है, इसीलिए तुलना, उदाहरण या दृष्टान्त के बिना हमारा मन कुछ भी समझ कर सन्तुष्ट नहीं होता—इसीलिए वह समझना भी नहीं चाहता। और 'विशेष' के सम्बन्ध में सम्यक् प्रतीति-लाभ करने के लिए हमें विशेष के समूह से उत्पन्न जो 'सामान्य' है, उसकी शरण लेनी पड़ती है। इस 'सामान्य' के समर्थन से विशेष के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्पष्टतर हो उठता है। इसीलिए हमारे विचारों में 'सामान्य' से 'विशेष' एवं 'विशेष' से 'सामान्य' के प्रति आवागमन लगा रहता है। पहले ही कहा गया है कि इस प्रकार के विशेष द्वारा सामान्य का या सामान्य द्वारा विशेष का, कारण द्वारा कार्य का अथवा कार्य द्वारा कारण का समर्थन करने को ही आलंकारिकों ने 'अर्थान्तरन्यास' के नाम से पुकारा है। कालिदास ने अनेक बार अपने अलंकार-प्रयोग द्वारा 'सामान्य' को विशेष की सहायता से स्पष्ट किया है और 'विशेष' को 'सामान्य' के द्वारा पुष्ट किया है। 'कुमारसम्भव' के आरम्भ में कवि कहता है—'अनन्तरत्नप्रसवकारी हिमालय के सौन्दर्य को उसका तुषार विलुप्त नहीं करता; क्योंकि बहुत से गुणों में एक दोष डूब जाता है—जैसे चन्द्र की किरण-राशि में उसका कलंक-चिह्न'—

अनन्त - रत्न - प्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ॥ (१।३)

यहाँ देखते हैं कि पहले 'अनन्तरत्नप्रसू हिमालय का सौन्दर्य हिम को विलुप्त नहीं कर सकता है,' इस 'विशेष' का समर्थन किया गया—'एक दोष गुण-समूह में डूब जाता है'—इस 'सामान्य' के द्वारा; फिर इस 'सामान्य' का समर्थन किया एक दूसरे 'विशेष' की सहायता से—'चन्द्र की किरणराशि में जिस तरह उसका कलंक-चिह्न डूब जाता है।'

'मालविकाग्निमित्र' में देख पाते हैं—मालविका गुरु-द्वारा उपदिष्ट अभिनय आदि कलाओं में अत्यन्त निपुण हो गई है। गुरु गणदास कहते हैं :

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥

'कलागुरु की शिक्षा यदि पात्रविशेष में न्यस्त हो, तो वह अनेक गुना बढ़ जाती है; जैसे मेघ का जल समुद्र की सीप में पड़कर मोती बन जाता है।'

अन्यत्र राजा अग्निमित्र विदूषक से कहते हैं—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन बिना सचक्षुरपि ॥

'उपयुक्त सहायक के रहने पर ही प्रभु बाधा-विपत्ति के रहने पर भी अपना अभिप्राय सिद्ध कर सकते हैं, प्रदीप न रहने पर चक्षुष्मान् व्यक्ति अन्धकार में दृश्य वस्तु को नहीं देख सकता।' 'रघुवंश' के अज-विलाप में देख पाते हैं :

अथवा मृदुवस्तु हिंसितुं
मृदुनैवारभते प्रजान्तकः
हिमसेकविपत्तिरत्र मे
नलिनी पूर्व-निदर्शनं मता ॥ (८।४५)

'अथवा प्रजान्तक काल मृदु वस्तुओं को मृदु वस्तु द्वारा ही नष्ट करता है; तुषार-पात से कमल का विनाश इसका प्रकृष्ट उदाहरण है।'

कालिदास के बहुत से अर्थान्तरन्यास अलंकारों ने परिवर्ती काल में लोकोक्तियों की मर्यादा प्राप्त की। जैसे 'मेघदूत' में यक्ष मेघ के निकट अपनी प्रार्थना व्यक्त करता हुआ कहता है :

याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ (पू० मे० ६)

'अधिक गुण-युक्त पुरुष के निकट की गई प्रार्थना निष्फल होने पर भी उचित है; अधम के निकट लब्धकाम होने पर भी उचित नहीं।'

'मेघदूत' में ही अन्यत्र पाते हैं :

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

(पू० मे० ५३)

'उत्तम व्यक्तियों की सम्पत्ति आपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की आर्ति के प्रशमन के लिए ही होती है।'

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्ना ।

'ऐसा कौन व्यक्ति है जो निष्फल कार्य का उद्योगी होने पर भी तिरस्कार का भागी नहीं बनता ?'

'कुमारसम्भव' में हिमालय के वर्णन में देखते हैं :

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु
लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्व - मुच्चैःशिरसां सतीव ॥ (१।१२)

'यह हिमालय दिन-भीत गुहालीन अन्धकार की सूर्य से रक्षा करता है; क्षुद्र भी यदि महान् व्यक्तियों के शरणापन्न हों, तो भी सज्जनोचित ममत्व ही दृष्टिगोचर होता है।'

हिमालय के जिस निर्जन प्रदेश में महादेव अपनी योग-साधना में निमग्न रहते थे, वहाँ आकर पार्वती पाद्यादि द्वारा उनकी सेवा करती थीं। योग-तत्पर होने पर भी महादेव ने पार्वती के इस सेवा-कार्य में बाधा नहीं दी—

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः
शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ (१।५९)

'महादेव ने पार्वती को समाधि में विघ्न-स्वरूप जानकर भी उनकी सेवा-शुश्रूषा स्वीकार कर ली; क्योंकि विकार के कारण रहने पर भी जिनके चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, वे ही तो वास्तविक धीर हैं।'

शिव की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव का प्रयोजन था; वह कामदेव जब उपस्थित हुआ, तब इन्द्र के सहस्र नेत्र देवताओं का परित्याग कर उस पर

पड़े; क्योंकि—

प्रयोजना - पेक्षितया प्रभूणां
प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ (३।१)

'प्रायः ही देखा जाता है कि आश्रित जनों के प्रति प्रभुओं का जो गौरव-भाव है, वह प्रयोजन के अनुसार चंचल होता है; अर्थात् प्रयोजन के अनुसार ही ह्रास या वृद्धि को प्राप्त करता है '

अकाल-वसन्त के वर्णन में देखते हैं :

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ (३।२८)

'वर्णप्रकर्ष रहने पर भी कर्णिकार ने निर्गन्धता के कारण चित्त सन्तप्त किया था; देखा जाता है कि विधाता की प्रवृत्ति गुण-समूह की समग्रता का विधान करने में प्रायः पराङ्मुखी है ।'

फिर देखते हैं, मेनका अनेक प्रकार के उपदेश देकर स्थिर-संकल्पा कन्या पार्वती को तपस्या से विमुख नहीं कर सकी; क्योंकि—

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ (५।५)

'जिसका मन अभीष्टार्थ में स्थिर-संकल्प हो गया है, उसके मन को, और निम्नाभिमुखी जल को, कौन विमुख कर सकता है ?' यहाँ प्रतीप के साथ ही अर्थान्तरन्यास है।

कालिदास की उपमा में मौलिकता और शुचिता

कालिदास की उपमा की प्रधान महत्ता है उसकी विचित्रता एवं मौलिकता। कवि ने अपनी कल्पना को किसी सीमाबद्ध राज-पथ पर नहीं चालित किया है। उत्तुंग पर्वत, दुर्गम वनराजि, सीमाहीन वारिधि, विराट् आकाश, बन्धनहीन वारिद, तरुलता, फल-फूल, पशु-पक्षी—मनुष्य, उसका जीवन, उसका स्नेह-प्रेम, शौर्य-वीर्य, शिल्प-ज्ञान, याग-यज्ञ, धर्म-कर्म आदि समस्त विषयों को लेकर विश्व-सृष्टि ने ही मानो अपनी विपुल समग्रता के साथ एक विशेष रूप ग्रहण किया था—कवि के वासना-राज्य में आश्रय ग्रहण कर। जगत् को एवं जीवन को उन्होंने एक स्वतन्त्र दृष्टि से विशेष रूप में अनुभव किया था। उस समस्त दर्शन ने, समस्त अनुभूति ने ही पुनः काव्य में रूप पाया समग्रता के वैचित्र्य में। प्रकृति के माध्यम से उन्होंने ऐसे अनेक चित्र भी अंकित किये हैं, जिनको आजकल हम यवनिका के अन्तराल में कुछ आच्छन्न रखकर उपस्थित करना चाहते हैं; किन्तु दूसरी ओर उनके विचारों की मंगलमय शुभ्रता—उनका उच्च आध्यात्मिक स्वर हमें श्रद्धावनत कर देता है। सुरसप्त के निम्नतम स्वर से आरम्भ कर, मध्यम सप्त का प्रतिक्रमण कर, तारसप्त के सर्वोच्च स्वर तक पहुँचने में भी कवि को कहीं भी प्रयास नहीं करना पड़ता। इस आरोह-अवरोह में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है, सभी बातें उनके निकट अत्यन्त सहजसाध्य थीं—सर्वत्र ही सावलील छन्द पाया जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' में रानी धारिणी जब संन्यासिनी कौशिकी के साथ सुशोभित हो रही थीं, तब राजा ने कहा :

मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥

'मंगल-अलंकारों से भूषिता रानी की बगल में यतिवेश-धारिणी कौशिकी को देखकर लगता है कि विग्रहवती त्रिगुणात्मिका वेदविद्या मानो अध्यात्म-विद्या के साथ सुशोभित हो रही है।' रानी स्वयं भी मंगलालंकृता हैं; उनकी

सम्पदा के साथ, राजशक्ति के साथ, योग हुआ है मांगल्य का; इसीलिए वे त्रिगुणात्मिका वेद-विद्या संन्यासिनी कौशिकी हैं विग्रहवती वेदान्त-विद्या। इसके बाद देख पाते हैं परिव्राजिका कौशिकी राजा को आशीर्वाद दे रही है :

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयो - र्द्वयोः ।
धारिणी भूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥

'भूतधात्री वसुन्धरा जैसे बहुमूल्य रत्न-प्रसवा है, वह जैसे सर्वक्षमा है, वैसे ही वीरपुत्र-प्रसविनी एवं धरित्री की तरह सहनशीला तुम्हारी यह रानी 'धरणी' है ; तुम सौ वर्षों तक इन दोनों के स्वामी होकर जीवित रहो !' धरित्री की तरह रत्नगर्भा एवं धरणी की तरह सहनशीला रानी की मूर्ति मानो एक अनिर्वचनीय महिमा से दीप्त हो उठी है !

'रघुवंश' में देख पाते हैं—'साध्वियों में अग्रगण्य महाराज दिलीप की धर्मपत्नी सुदक्षिणा होमधेनु नन्दिनी के पवित्र पाद-स्पर्श से पावन धूलिमय पथ पर, उसका अनुसरण कर, चल रही है—लगता है जैसे मूर्त्तिमती स्मृति मूर्त्तिमती श्रुति के अर्थरूपी पथ का अनुसरण कर रही है'—

तस्याः खुरन्यास - पवित्रपांसु-
मपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वर - धर्मपत्नी
श्रुतेरिवार्थं स्मृति - रन्वगच्छत् ॥ (२।२)

रानी सुदक्षिणा को साक्षात् श्रुति की अनुगामिनी स्मृति कहकर सम्बोधित करने के लिए किस तरह रानी को प्रस्तुत करना चाहिए, यह कालिदास को ज्ञात था; इसीलिए पहले कवि ने क्षेत्र तैयार किया और फिर यह चित्र आँका। सुदक्षिणा एक ओर 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया' है, दूसरी ओर 'मनुष्येश्वर- धर्मपत्नी'—इसीलिए वह रानी होम-धेनु नन्दिनी के पीछे साक्षात् स्मृति-स्वरूपिणी है। होमधेनु नन्दिनी के सम्बन्ध में देख पाते हैं—

तां देवतापित्रतिथि - क्रियार्था-
मन्वग्ययौ मध्यम - लोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन
श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना ॥ (२।१६)

पृथ्वीपालक दिलीप देवतालोक, पितृलोक एवं अतिथिगण के प्रति कर्त्तव्य-साधन की सहाय-रूपिणी नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे थे ; सज्जनों के निकट भी सम्माननीय राजा दिलीप द्वारा अशेष श्रद्धा-सहित सेव्यमाना नन्दिनी

ऐसी लग रही थी, मानो सज्जनगण-समर्थित विधि के साथ शोभमाना साक्षात् श्रद्धा हो।'

'रघुवंश' में श्रीराम-प्रभृति के जन्म-वर्णन में देख पाते हैं—'पतिपरायणा अग्रमहिषी कौशल्या की कोख से राम का जन्म रात्रि में ओषधि से तमोनाशक ज्योति के आविर्भाव-तुल्य है'—

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती।
पुत्रं तमोऽपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ (१०।६६)

'भरत ने माता कैकेयी की गोद वैसे ही सुशोभित की, जैसे विनय सुशोभित करता है श्री को'—

जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ (१०।७०)

'माता सुमित्रा ने दो पुत्र प्रसव किये—लक्ष्मण और शत्रुघ्न; जैसे सम्यक् आराधिता विद्या जन्म देती है—प्रज्ञा और विनय को'—

सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ (१०।७१)

महाराज कुश एवं महारानी कुमुद्वती के पुत्र-जन्म पर कवि ने लिखा है—'रात्रि के शेष प्रहर में मनुष्य को जैसे प्रसन्न चेतना प्राप्त होती है, उसी तरह रानी को पुत्र-लाभ हुआ'—

अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रं प्राप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥ (१७।१)

'महर्षि वाल्मीकि जब आश्रमवासी ब्रह्मचारिणी सीता एवं उनके शिशु-पुत्रद्वय के साथ राज-सभा में उपस्थित हुए, तब लगा कि एक परम ऋषि मानो उदात्ता-दि स्वर-विशुद्धियुक्ता गायत्री के साथ उदीयमान सूर्य के सम्मुखीन हुए'—

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ (१५।७६)

महर्षि वाल्मीकि के साथ परम पवित्र सीता जैसे मूर्त्तिमती गायत्री हो; उस गायत्री-कल्पा जननी के पास पुत्रद्वय जैसे गायत्री की उदात्त-आदि की स्वर-शुद्धि हों! सम्मुखस्थ रामचन्द्र जैसे उदीयमान सूर्य हों—महर्षि वाल्मीकि की आश्रिता सीता की मूर्ति यहाँ एक अनिर्वचनीय पवित्र महिमा से भर उठी है।

महर्षि मारीच ने अपने तपोवन में धृतैकवेणी शकुन्तला, कुमार सर्वदमन एवं राजा दुष्यन्त को देखकर कहा था :

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ॥

'साध्वी तपस्विनी शकुन्तला जैसे साक्षात् श्रद्धा और राजा दुष्यन्त जैसे साक्षात् विधि—उस विधि एवं परम श्रद्धा के मिलन से जैसे सर्वदमन-रूपी मूर्तिमान् वित्त ने जन्म ग्रहण किया है।'

'रघुवंश' में देख पाते हैं, राजा दिलीप ने ढलती उमर में निन्यानबेवाँ महायज्ञ पूर्ण करने के बाद सांसारिक विषयों से पूर्णरूपेण निवृत्त होकर युवा पुत्र रघु को यथाविधि राज्य प्रदान किया। 'वीर्यवान् रघु राजशक्ति प्राप्त कर अधिकतर प्रदीप्त हो उठे—जैसे अधिक प्रदीप्त हो उठता है हुताशन, जब उसमें दिनान्त के उपरान्त सूर्य का तेज निहित होता है—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः॥ (४।१)

वृद्ध होने पर पुनः राजा रघु जब योग्य राजकुमार अज को राज्यभार अर्पित कर संन्यास ग्रहण कर रहे थे, तब :

प्रशमस्थित - पूर्वपार्थिवं,
कुलमभ्युद्यत - नूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुला-
मुदितार्केण समारुरोह तत्॥ (८।१५)

'एक ओर पूर्वराजा का प्रशमन दूसरी ओर नवीन राजा का अभ्युदय; राजकुल जैसे अस्तमितप्राय चन्द्र एवं उदीयमान सूर्ययुक्त आकाश की तरह सुशोभित हो रहा था।'

वृद्ध राजा रघु ने संन्यास के चिह्न धारण किये, एवं युवराज अज ने राजचिह्न; वे लोग जैसे पृथ्वी में धर्म के 'अपवर्ग' एवं 'अभ्युदय' इन दोनों अंशों की प्रतिमूर्ति थे (८।१६)। तत्पश्चात् एक ओर युवराज अज अधिपद प्राप्त करने की इच्छा से नीतिविशारद मन्त्रियों से मिले; और दूसरी ओर वृद्ध राजा रघु मोक्षपदप्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी योगियों से (८।१७)। एक ओर युवराज अज ने प्रजा के हानि-लाभ का पर्यवेक्षण करने के लिए सिंहासनारोहण किया; दूसरी ओर वृद्ध राजा रघु भी अपने चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए वन में पवित्र कुशासन पर आसीन हुए (८।१८)। एक ओर राजकुमार अज ने अपने राज्य के निकटवर्ती समस्त राजाओं को अपनी प्रभुशक्तिसम्पदा द्वारा वशवर्ती किया, दूसरी ओर रघु ने समाधि-योग के अभ्यास द्वारा अपने शरीरगत पंचवायु का नियन्त्रण किया (८।१९), एक ओर युवराज अज शत्रुओं की सकल प्रतिकूल चेष्टाओं को भस्मसात् करने लगे; दूसरी ओर

रघु ज्ञानाग्नि द्वारा अपने समस्त कर्मफल भस्मसात् करने में प्रवृत्त हुए (८।२०)। सन्धि-विग्रह प्रभृति छहों गुणों के फलों पर विचार कर अज उनका प्रयोग करने लगे; रघु ने भी मृत्तिका एवं कांचन के प्रति समदृष्टि होकर गुणत्रय को जीत लिया (८।२१)। स्थिरकर्मा नवीन भूपति फलोदय न होने तक कुछ भी क्यों न हो, कर्म से विरत नहीं होते थे; और स्थितधी वृद्ध राजा भी परमात्म-दर्शन के पूर्व पर्यन्त योगविधि से शान्त नहीं हुए (८।२२)।

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च
प्रतिषिद्ध-प्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रशितावुदयापवर्गयो-
रुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः॥ (८।२३)

'इस तरह पिता-पुत्र में एक ने शत्रु का एवं दूसरे ने इन्द्रिय की स्वार्थ-प्रवृत्ति का निवारण कर, एक ने अभ्युदय एवं दूसरे ने अपवर्ग के प्रति आसक्त होकर, अपने-अपने अनुरूप सिद्धि प्राप्त की।'

इन श्लोकों के द्वारा कवि ने मनुष्य के प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-धर्म को जैसे अज एवं वृद्ध नरपति कुमार के रूप में सचमुच मूर्त कर दिया है। कुछ विचार करने पर ही देख पायेंगे कि समस्त तुलनाओं में निहित है गुण-कर्म का एक परस्पर-विरोधी पार्थक्य। दोनों ओर इन परस्पर-विरोधी गुण-कर्मों को सजा कर परस्पर वैपरीत्य के माध्यम से अत्यन्त स्पष्ट रूप से दो चित्र अंकित किये गए हैं।

उपसंहार

हमने कालिदास के काव्य-वारिधि से केवल कुछ उपमा-रत्नों की परख की। कालिदास के काव्य में इस प्रकार की उपमाओं को विशेष यत्नपूर्वक खोजकर नहीं निकालना पड़ता—काव्य-ग्रन्थ खोलने से ही दो-एक उपमा अपने-आप दृष्टि में पड़ जाती हैं। 'रघुवंश' लिखना आरम्भ करने पर कुछ समय तक केवल उपमा के द्वारा ही कवि ने काव्य आगे बढ़ाया है। सर्वप्रथम उन्होंने वागर्थ के सदृश नित्य-संयुक्त पार्वती-परमेश्वर को प्रणाम किया। क्षुद्र शक्ति लेकर विशाल सूर्यवंश की कहानी के रचना-प्रयास की तुलना बेड़े से सागर पार करने की चेष्टा के साथ की; मन्द कवियशःप्रार्थी स्वयं को चन्द्रलोभ के निमित्त उद्बाहु वामन की तरह उपहास-योग्य बताया। वाल्मीकि-प्रभृति पूर्ववर्ती ऋषियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर काव्य-रचना के सम्बन्ध में कहा—'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'— अर्थात् 'वज्र (हीरकादि मणि-वेधक) के द्वारा विद्ध कठिन मणि के भीतर जैसे सूत्र की गति हो।' बाह्य जगत् के समस्त दृश्य, गन्ध, गान आदि सब समय ही इस तरह कवि के मन में भीड़ किये रहते हैं कि 'इव' एवं 'एव' के बिना कवि कोई बात ही नहीं कर सकता। किन्तु यह जो उनके समस्त काव्य में सर्वत्र 'इव' एवं 'एव' की भर-मार है, उससे कभी भी ऐसा नहीं लगता कि कहीं भी ज्यादती की गई है, अथवा कृत्रिम अलंकार-प्रयोग के आप्राण परिश्रम द्वारा कवि स्वयं ही हाँफ गया है एवं काव्य को भी अतिरिक्त अलंकार-भार से एकदम लाद दिया गया है। उपमा-प्रयोग कालिदास की स्वाभाविक वचनभंगी है। एक ही श्लोक में जब कवि ने एकदम उपमा की माला पिरो दी है, वहाँ भी उस चातुर्य में एक चमत्कारित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसे 'मेघदूत' में उत्तर मेघ के प्रथम श्लोक में कहा गया है :

विद्युद्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

आकाश के मेघ एवं अलकापुरी के प्रासाद एकदम समान रूप से तुलनीय हैं, श्लोक में यही बात कही गई है। मेघ में है विद्युत्—अलका के प्रत्येक प्रासाद में हैं ललित वनिताएँ, जो विद्युत् की ही तरह लास्यमयी एवं अपनी रूप-प्रभा से आँखों को चकाचौंध करनेवाली हैं; मेघ में है इन्द्रधनुष, प्रासादों में है विचित्र वर्णों का चित्रण; मेघ की है स्निग्ध गम्भीर ध्वनि, और अलका के प्रासाद-प्रासाद में है संगीत के लिए प्रहत मृदंग का गुरु-मंद्र रव; जैसे मेघ अन्तस्तोय है, अर्थात् जलपूर्ण होने के कारण तरलाकार है, अलका के प्रासादों के मणिमय स्वच्छ आँगन भी ठीक वैसे ही हैं; मेघ जैसे गगन-स्पर्शी है, प्रासाद भी वैसे ही गगनस्पर्शी हैं; इसलिए सब ओर से वे समान हैं।

आलंकारिकों के सूक्ष्म विचार से कालिदास के उपमा-प्रयोगों में अनेक गुणों के साथ कहीं-कहीं कुछ छोटे-छोटे दोष भी निकल सकते हैं। यहाँ तक कि महादेव के ईषत् चित्त-चांचल्य के दृश्य के सम्बन्ध में भी आलंकारिक दृष्टि से यह आपत्ति की जा सकती है कि यहाँ एक ही श्लोक में दो प्रधान उपमाओं का प्रयोग किया गया है—एक है चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि से किंचित् परिलुप्तधैर्य महादेव की तुलना ; दूसरी है उमा के अधरोष्ठ से बिम्बफल की तुलना। आलंकारिकों के सूक्ष्म विचार से यहाँ यह अभियोग लगाया जा सकता है कि हमारा मन दो दृश्यों के प्रति युगपत् आकृष्ट होने के कारण किसी दृश्य की रसानुभूति सम्पूर्ण रूपेण नहीं हो सकती। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा यह वक्तव्य है कि कालिदास की उपमा की मौलिकता, सूक्ष्मता, गम्भीरता से उसके वैचित्र्य एवं औचित्य में निहित एक अनिर्वचनीय महिमा से पाठक का चित्त इतना विस्मित, मुग्ध एवं चमत्कृत हो जाता है कि इन सब छोटे-छोटे दोषों की ओर उसका मन जाता ही नहीं। हम लोग अपनी साधारण आँखों से जिस सूर्य को केवल ज्योतिर्मण्डल के रूप में देख पाते हैं, वैज्ञानिकों के दूरवीक्षण की सूक्ष्म दृष्टि से उसमें भी कितने ही अन्धकार-रन्ध्र आविष्कृत हो सकते हैं। गवेषक का वह आविष्कार प्रकाण्ड वैज्ञानिक सत्य हो सकता है—किन्तु हम लोगों के निकट, जो प्रभात, मध्याह्न एवं संध्या-समय सूर्य-किरण के वर्ण-वैचित्र्य एवं औज्ज्वल्य को देखकर विस्मयाभिभूत हुए हैं, वह एक प्रकाण्ड सत्य नहीं है ? कालिदास की उपमाओं में कष्ट-कल्पना की क्लिष्टता या बँधी-बँधायी रीति की रसवैचित्र्यहीनता कहीं भी नहीं है, यह बात हम नहीं कह सकते—किन्तु उनके काव्य में वे सूर्य-मण्डल के अन्धकार-रन्ध्र की तरह ही हैं, इसीलिए पाठक का चित्त उनसे पीड़ित नहीं होता।

इन समस्त उपमा-प्रयोगों के द्वारा कालिदास के काव्य की जो वस्तु हमारे चित्त को झकझोर देती है, वह कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य है। समस्त काव्य के भीतर कवि की एक विशेष सत्ता का, एक अमोघ स्पर्श का अनुभव हम प्रतिमुहूर्त करते हैं। कवि-प्रतिभा का स्पष्टतम परिचय वहीं मिलता है, जहाँ कवि का व्यक्ति-पुरुष अपने स्पर्श से सहृदय पाठक की चेतना को निरन्तर आलोड़ित करता रहता है एवं उस आलोड़न के स्पन्दन से कवि का व्यक्ति-पुरुष पाठक के हृदय में निरन्तर एकान्त स्पर्श-योग्य हो उठता है। काव्य के माध्यम से कवि के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का यह जो स्पन्दन है—यह जो उसका अमोघ स्पर्श है—उसी ने कालिदास के काव्य को प्रदान की है एक विराट् स्वातन्त्र्य की महिमा। कालिदास के आविर्भाव के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो गई हैं—बहुत साहित्य रचा गया है—किन्तु आज भी लगता है कि साहित्य के दरबार में अपनी प्रतिभा के गौरव से जिस स्थान पर अधिकार कर कालिदास विराजमान हैं, आज भी उस आसन के अधिकारी केवल कालिदास ही हैं।

हमारा समालोचना-साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र	१०.००
भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा		१६.००
देव और उनकी कविता	"	७.००
रीति-काव्य की भूमिका		५.५०
विचार और अनुभूति	"	४.५०
विचार और विवेचन	"	४.५०
विचार और विश्लेषण	"	५.५०
सियारामशरण गुप्त	"	५.५०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	"	४.००
अनुसन्धान और आलोचना	"	४.००
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	१८.००
समीक्षात्मक निबन्ध	"	५.५०
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य	डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	१२.५०
कविता में प्रकृति-चित्रण	"	४.००
हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध	डा० उदयभानुसिंह	१०.००
नाट्य-समीक्षा	डा० दशरथ ओझा	५.००
मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता	डा० उमाकान्त	१५.००
गुप्तजी की काव्य-साधना	"	८.००
प्रकृति और काव्य	डा० रघुवंश	१२.००
अनुसंधान की प्रक्रिया	डा० सावित्री सिन्हा और डा० विजयेन्द्र स्नातक	५.००
खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना	डा० आशागुप्ता	१६.००

नाट्यकला	डा० रघुवंश	७.५०
रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त एम. ए.	५.००
भारतीय कला के पदचिह्न	डा० जगदीश गुप्त	५.००
ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प	डा० सावित्री सिन्हा	२०.००
हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर	डा० विमलकुमार जैन	५.००
हिन्दी-उपन्यास	महेन्द्र चतुर्वेदी	६.५०
डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त	नारायणप्रसाद चौबे	७.००
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न	डा० विमलकुमार जैन	७.००
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुवीरसरन झालानी	५.००
धूल-धूसरित मणियाँ	दमयन्ती, सीता आदि	१५.००
भारत की लोक-कथाएँ	सीता बी० ए०	८.००
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रामलाल वर्मा	३.००